740 सीताराम अग्नी S.S.B.

भागवत दर्शन

खण्ड ७१

गीतावार्ता (३)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

—:o:—

लेखक

श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

—:o:—

प्रकाशक—

सङ्कीर्तन-भवन

प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

—:*:संशोधित मूल्य २-० रुपया

प्रथम संस्करण] मार्गशीर्ष—गीता जयन्ती [मू० १-६५ पै०
१००० प्रति] २०२६

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

॥ श्रीहरिः ॥

(व्रजभाषा में भक्तिभाव पूर्ण, नित्य अनुपम पाठ के योग्य महाकाव्य)

श्रीभागवतचरित

[रचयिता—श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी]

श्रीमद्भागवत, गीता और रामायण ये सनातन वैदिक धर्मावलम्बी हिन्दुओं के नित्य पाठ के अनुपम ग्रंथ हैं। हिन्दी भाषा में रामायण तो गोस्वामी तुलसीदासजी कृत नित्य पाठ के लिये थी, किन्तु भागवत नहीं थी, जिसका सस्कृत न जानने वाले भागवत-प्रेमी नित्य पाठ कर सकें। इस कमी को 'भागवत चरित' ने पूरा कर दिया। यह अनुपम ग्रंथ ब्रजभाषा की छप्पय छन्दों में लिखा गया है। बीच-बीच में दोहा, सोरठा, छन्द, लावनी तथा सरस भजन भी हैं। सप्ताह क्रम से सात भागों में विभक्त है, पाक्षिक तथा मासिक पाठ के भी स्थलों का संकेत है। श्रीमद्भागवत की समस्त कथाओं को सरल, सरस तथा प्रांजल छन्दों में गाया गया है। सैकड़ों नर-नारी इसका नित्य नियम से पाठ करते हैं, बहुत से कथावाचक पंडित हारमोनियम तबले पर गाकर इसकी कथा करते हैं और बहुत से पंडित इसी के आधार से भागवत सप्ताह बाँचते हैं। लगभग नौ सौ पृष्ठ की पुस्तक मुंदर चिकने २८ पौंड सफेद कागज पर छपी है सैकड़ों सादे एकरंगे चित्र तथा ५-६ बहुरंगे चित्र हैं। कपड़े की टिकाऊ बढ़िया जिल्द और उस पर रंगीन कवरपृष्ठ है। बाजार में ऐसी पुस्तक १०) में भी न मिलेगी। आज ही एक पुस्तक मँगाकर अपने लोक परलोक को सुधार लें। न्योछावर केवल ६) रुपये ५० पैसे मात्र, डाकव्यय पृथक्।

पता—संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर [झूसी] प्रयाग

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ संख्या

श्री सत्यनारायण व्रत कथा (माहात्म्य)

छप्पय छन्दों में

सत्यनारायण भगवान् की महिमा अपार है। संसार सत्य के सहारे ही अवस्थित है। सत्य सार है। जगत् असत है। सत्य ज्ञान है, सत्य ही अनन्त अनादि है, सत्य ही ब्रह्म है सत्य पालन ही संसार मे सर्व सुलभ सुखकर सुन्दर साधन है। यह संसार तो सिन्धु के समान है, सत्य का सहारा लेकर ही इसे पार किया जाता है, इसीलिये हम सत्यनारायण भगवान् का व्रत, पूजन तथा अनुष्ठान करते है। कलिकाल में सत्यनारायण व्रत सर्वश्रेष्ठ साधन है। इसीलिये सत्यनारायण भगवान् का पूजन घर-घर होता है।

श्री सत्यनारायण व्रत कथा (माहात्म्य)–छप्पय छन्दों में इलोक सहित साथ ही पूजा पद्धति भी संक्षेप में दी गई है।

भक्तों के वार-वार आग्रह करने पर श्रीब्रह्मचारी जी महाराज ने यह पुस्तक छप्पय छन्दों में लिखी है। पुस्तक वहुत ही उपयोगी है, अभी छपी है पृष्ठ संख्या ७८, मूल्य ७५ पैसे।

व्यवस्थापक

अपनी निजी चर्चा

[२]

तास्मादहं विगतविक्लव ईश्वरस्य,
सर्वात्मना महि गृणामि यथामनीषम् ॥
नीचोऽजया गुणविसर्गमनुप्रविष्टः
पूयेत येन हि पुमाननुवर्णितेन ॥*
(श्री भाग० ७ स्क० ९ अ० १२ श्लोक)

छप्पय

प्रभु ! अति अशुचि शरीर होहिँ नित नव-नव व्याधी।
जज्ञ जाग नहिँ ध्यान धारना सहज समाधी ॥
ज्ञान पंथ अति कठिन भक्ति हित हिय कस लाऊँ।
कैसे पूजा करूँ ध्यान किहि भाँति लगाऊँ ॥
सब साधन तैं हीन हौं, कस तुमकूँ हिय महँ धरूँ ?
उलटी सुलटी यथा मति, तव महिमा बरनन करूँ ॥

कथा भागवती लिखनी है, इसके पूर्व चर्चा अपनी करनी है,

---

* भगवान्-नृसिंह की स्तुति करते हुए प्रह्लाद जी कह रहे हैं—"प्रभो ! यद्यपि मैं नीच हूँ, तो भी बिना संकोच के निर्भर होकर-यथामति-आपकी उस महिमा का वर्णन करता हूँ, जिसका वर्णन करने से अविद्या-वश संसार चक्र में भटकता हुआ पुरुष तत्काल पावन हो जाता है।

जीवका धर्म ही है, अपना सिक्का पहिले जमाता है। अपनी बात न बतावे तो वह जीव ही नहीं। अत: जैन धर्म के वशीभूत होकर पहिले अपनी बात बताकर तब भगवत् बानी का विस्तार करूंगा।

हाँ, तो पिछले खण्ड में अपनी निजी चर्चा के प्रसंग में पाठक पाठिकाओं को आश्वासन दिलाया था, कि निजी चर्चा चालू रहेगी उसी क्रम में यह प्रसंग लिखा जा रहा है हाँ, तो कहाँ से आरम्भ करूं। कथा बहुत बड़ी है, और स्थल बहुत संकीर्ण केवल छोटे से एक अध्याय में ही तो लिखना है। अच्छा सुनिये हरिद्वार, कनखल, गरुड़ चट्टी, नर्मदा तट, चित्रकूट आदि से निराश होकर यहाँ त्रिवेणी तट पर आ गया। हंसतीर्थ-सन्ध्यावट सघन छाया, शांत एकांत स्थान, एकाकी कुटिया, एकाकी जीवन, मंत्र जाप ही व्यापार, बिल्व दुग्ध ही आहार। न प्रसिद्धि न प्रतिष्ठा। एक दिन पं० पद्मसिंह जी शर्मा खोजते-खोजते भटकते हुए वहाँ आ पहुँचे। बड़े ही प्रसन्न हुए। बड़े विनोदी थे वे, बोले—"महाराज, बड़े एकान्त स्थान में आकर बैठे हो, यहाँ लीडरों का प्रवेश नहीं। नेता तो वही पहुँचते हैं जहाँ मोटर की सुविधा हो, आपके स्थान को देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई।" सचमुच वह स्थान परम एकान्त था, मै स्वच्छता प्रिय तो सदा से ही रहा हूँ, लिपीपुती भूमि मुझे अत्यन्त ही मनोरम प्रतीत होती है गो के गोबर में श्री का निवास है। सात्विकता और शांति का प्रतीक है। सन्ध्या वट की अपनी नन्हीं कुटी को मै लिपवा पुतवाकर खूब स्वच्छ रखता। जो भी आता वही कहता—"काक भुसुंडि का सा आश्रम है, यहाँ कितनी शांति है।

मेरे सभी साथी संगी एक-एक करके चल दिये। सब साथियों के नाम के पीछे स्वर्गीय लगाना पड़ता है। लखनऊ जेल में हम

२५०–३०० साथी थे, उनमें से अब केवल दो ही चार बचे है, वे भी बोरिया बिस्तर बाँधे तैयार बैठे हैं कहाँ जाते हैं इतने लोग, कैसा चालू मार्ग है, फिर कोई चिट्ठी पत्री भी नही देता। कितने-कितने प्रसिद्ध पुरुष चले गये। दो चार दिन समाचार पत्रों में ही हल्ला मचता है, फिर टांइ-टांइ फिस्स। इसी का नाम जगत् है। जब तक जीते है, हम यह कर देंगे, वह कर देंगे, यह उचित नहीं, वह आदमी भला नहीं, मेरी बात मानोगे तो सब सुखी हो जाओगे। मेरी योजना से सबके दुख दूर हो जायंगे। जब चले गये अपनी अहंमन्यता साथ ले गये। संसार फिर अपनी उसी मंथर गति से चलता रहता है "मेरी-मेरी कहि जाने मोइ छांडि किते गये।

एक गुरु के चरणों में जाकर शिष्य ने पूछा—"भगवन्! कोई उत्तम उपदेश दें।"

गुरु ने कहा—मुझे भूल जाओ।

शिष्य ने कहा—"यह तो असंभव है।"

गुरु ने कहा—"तब अपने को ही भूल जाओ।"

शिष्य ने कहा—"यह भी कठिन है।"

तब गुरु ने कहा—तब जाओ मन से, वाणी से और कर्म से सबकी सेवा करो, किन्तु उसमें अहंभाव न आने पावे कि यह मैंने किया।

गुरु को भूल जाना त्रिपुटि को मिटाना है ज्ञानमार्ग है। अपने को भूल जाना भक्ति मार्ग है, अहंकार रहित होकर कर्म करते रहना। निष्काम कर्मयोग मार्ग है। जो ज्ञान के अधिकारी नहीं है। वे इसी मार्ग से जा सकते हैं। यही सोचकर कर्म करने की चेष्टा की, किन्तु बीच-बीच में प्रतिष्ठा प्रसिद्धि की वासनाओं ने अपनी अहंकृति ने सब गुड़ गोबर कर दिया।

कुछ पूरा जीवन लिखने नहीं बैठा हूँ, बात इतनी ही बतानी है, कि "भागवती कथा" के लिखने में व्यवधान कैसे पड़ा। भवितव्यता ने, प्रारब्ध ने ही विघ्न डाल दिया। लिखते रहते तो ६ वर्ष में ही १०८ खड कब के पूरे हो जाते। किन्तु आज भागवती कथा को आरम्भ हुए २३ वर्ष हो गये। संवत् २००३ में प्रथम खंड निकला था। मंथर गति से भी निकलती तो १०। १२ वर्ष लग सकते थे, किन्तु बीच-बीच में वासनाएं उभरती गयी प्रारब्ध कर्मों के भोग प्रबल होते रहे। यहाँ चलो वहाँ चलो। यह करो वह करो। वहाँ की जेल का जल पीओ, वहाँ की जेल में समय बिताओ। इन सब कारणों से इन २३-२४ वर्षों में ७० ही खड छप चुके। अंतिम ६८वाँ खंड आज से ६-१० वर्ष पूर्व सं० २०१७ में निकला था, और पाठकों से निवेदन कर दिया था, कि अब इसे अंतिम ही खंड समझें। सब का हिसाब बेबाक करके फिर प्रारब्ध के अधीन होकर इधर-उधर भटकता रहा। १० वर्ष तक बहुत भटका आपको उसका पूरा विवरण दूं तो दस खंडों में भी नहीं दे सकता। यों ही समझो भाग्य जहाँ नचाता रहा नाचता रहा। श्री वृन्दावन वास के दिनों में गोव्रत काल में गोलोक का पुलिनवास मेला हुआ उसके अनंतर एक ६६वां खंड बीच में सं० २०२२ में पुनः प्रकाशित हो गया। फिर चार वर्ष बीच में बीत गये इसी से पाठकों का प्रयोजन है। पाठकों का भी क्या प्रयोजन है, अपनी सफाई देनी है। सफाई भी कौन माँग रहा है अपने मन की भँड़ास निकालनी है। हमने यह-यह बहादुरी की इसी को बताना है। बहादुरी हुई या कायरता हुई इसे तो पाठक ही निर्णय करेंगे।

हिन्दु धर्म की रीढ़ गौ ही है। इसे सभी जानते हैं। गौ के प्रति भक्ति भाव रखना यह हिन्दु धर्म का मूल मंत्र है गौ के बिना

हिन्दु धर्म का कोई भी संस्कार सम्पन्न नहीं हो सकता। इतिहास साक्षी है, हिन्दु धर्म एक मात्र गोभक्ति पर ही अवलंबित है।

जब झूसी में कई सौ गौएँ रखकर गो व्रत किया था, तब गौओं को ही वन में ले जाकर चराते थे। गौओं को कूटू खिला कर उनके गोबर में जो दाने निकलते थे, उन्हीं की रोटी बनाकर खाते थे, गौओं का गोबर उठाते थे, गौओ के ही बीच में सोते थे। पूरा जीवन गो मय था। यह व्रत ६ महीने का था, उस बीच में कई बार स्वर्गीय लाला हरदेव सहाय जी आये। वे गोहत्या बन्दी के लिये अपने ढंग से प्रयत्न करते रहते थे। वे अपने सहयोगियों से मत भेद होने के कारण मेरे पास आये और बोले—"गौरक्षा के लिये उनके सम्मिलित प्रयत्न होना चाहिये। मैं समझता था, गौ का प्रश्न एक ऐसा प्रश्न है, इस पर सभी दल के हिन्दुमात्र एक मत हैं, इसमें कोई कठिनाई न होगी। क्योंकि कांग्रेसी पहिले सब से बड़े गौ भक्त माने जाते थे सरकार की ओर से गो सप्ताह मनाया जाता था। मंत्रीगण लाखों जनता के बीच में बड़ी श्रद्धा भक्ति से गो को पूजा करते थे। धार्मिक संस्थायें तो सब एक स्वर से गोहत्या बन्दी की मांग करती ही थीं। हमने सोचा—राजनैतिक मतभेद जिन दलों में हो उनमें होता रहे, उससे हमे क्या प्रयोजन, गौ का प्रश्न तो हिन्दु मात्र का धार्मिक समाजिक परम्परागत सनातन सार्वभौम सर्वसम्मत प्रश्न है इसमें सभी राजनैतिक धार्मिक सामाजिक साहित्यिक व्यक्ति सम्मिलित हो जायँगे। इसीलिये तीर्थराज प्रयाग में कुम्भ के अवसर पर 'गोहत्या निरोध समिति' सभी संत महंत मडलेश्वर नेता तथा समाज के अग्रणियों की सम्मति से बनायी गयी। सब ने इसे एक स्वर से स्वीकार कर लिया। लाला हरदेव सहाय जी उसके महामंत्री बने। मेरा नाम उन्होंने अध्यक्ष में रख दिया।

यद्यपि मैं प्रारम्भ से ही किसी सभा संस्था का न सदस्य बनता था। न पदाधिकारी ही। किन्तु लाला जी का अत्यन्त आग्रह था, मैंने इस शर्त पर स्वीकार किया कि आप चाहें मेरा नाम भले ही दे दें। मैं न तो कभी हस्ताक्षर ही करूंगा और न कभी इसका हिसाब किताब भी देखूंगा।" लाला जी अपने ढंग से कार्य करते रहे। मथुरा से कार्य प्रारम्भ हुआ। वहां वधशाला पर धरना की तैयारियाँ होने लगी। सत्याग्रह की नौबत ही न आई जिलाधीश की बुद्धिमत्ता से वधिकों ने अपने आप वधशाला हटा दी।

इस सफलता से उत्साह बढ़ा, उत्तर प्रदेश विधान सभा के सम्मुख सत्याग्रह किया गया। उन दिनों श्री कन्हैयालाल जी मुंशी *राज्यपाल थे। स्वर्गीय बाबू संपूर्णानन्द जी मुख्य मंत्री।* मुंशी जी सांस्कृतिक व्यक्ति हैं। बाबू सम्पूर्णानन्द जी से हमारे अत्यंत घनिष्ठ मैत्री सम्बन्ध थे। इसलिये उत्तर प्रदेश में सम्पूर्ण गो वंश की हत्या पर प्रतिबन्ध लगने का कानून बन गया। इससे हमारा उत्साह और बढ़ा। प्रधान मंत्री ने घोषणा कर दी थी कि यह प्रश्न राज्य सरकारों का है वे चाहें तो अपने-अपने राज्यों में गोवध बन्द करा सकती हैं। हमने सोचा—सभी प्रान्तों के मुख्य मंत्री हिन्दु है अपने परिचित है। सभी प्रान्तों में आन्दोलन करके गोवध बंद करा देंगे। इसलिये उत्तर प्रदेश से बिहार गये। बिहार के मुख्य मंत्री श्रीबाबू अपने पुराने परिचित थे और भी सभी मंत्री अधिकारियों से सम्बन्ध था। २२-२३ दिन कारावास में रहना पड़ा किन्तु वहाँ भी कानून बन गया। वहाँ से हम उड़ीसा में जाने वाले थे, तभी तक केन्द्र की ओर से ऐसी कानूनी अड़चनें डाली गयी कि सब किया कराया बेकार-सा हो गया। आगे कुछ करने का मार्ग भी अवरुद्ध सा हो गया। यह बहुत बड़ा प्रसंग है। उसे यहाँ छोड़ ही देते हैं।

५-६ वर्ष प्रतीक्षा करते रहे, जिन लोगों ने सहयोग देने का-साथ कार्य करने का वचन दिया था। उन्होंने भी निभाया नहीं। अपने ही सहयोगियों, मित्रों साथियों को संदेह हो गया। गोहत्या बन्दी का सम्पूर्ण श्रेय ये ही लें जायँगे। श्रेय का भी झगड़ा पड़ा। लाला हरदेव सहाय जी परलोक वासी हो गये। तब हमने श्रीवृन्दावन जाकर पुनः एक वर्ष का गो सेवा व्रत लिया। अबके कुट्टू न लेकर केवल मात्र गौ के दुग्ध पर ही पूरे वर्ष रहे। यमुना के उस पार गौओं को चराते इस पार आकर गौओं के बीच में रहते। गो सेवा व्रत के बीच में ही प्रधान मंत्री नेहरू जी परलोक वासी बन गये। लालबहादुर जो प्रधान मंत्री बने। उनसे अपना आत्मीय घरेलू सम्बन्ध था। उन्होंने वचन भी दिया था, कि मैं गो हत्याबंद करा दूँगा। किन्तु वे अधिक दिन जीवित न रह सके। रूस में ही उनका प्राणान्त हो गया। उनके स्थान पर इन्दिरा प्रधानमंत्री बनीं।

गो रक्षा का प्रश्न ज्यों का त्यों ही रह गया। अपने में तो उतनी शक्ति नही थी, कि इस प्रश्न पर एक प्रबल संगठन खड़ा कर सकें। गौ के नाम पर जो संगठन थे, वे प्रायः सभी शक्ति हीन थे, उनमें परस्पर में बड़ा भारी मत भेद। श्रेय प्राप्ति की इच्छा सभी को थी। उन सबसे प्रबल इच्छा मेरी थी। श्रेय का बँट बारा न हो सका। किया क्या जाय। मन में अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प उठने लगे। जिनसे सहयोग की पूरी आशा थी, उनसे निराश होना पड़ा कुछ लोगों ने इस प्रश्न को अपनी बपौती ही मान लिया था। उनका कहना था — कि यह प्रश्न हमारा हैं हम ही इसके एक मात्र नेता है, दूसरा कोई इस सम्बन्ध में बोल नहीं सकता। बोले तो हमसे पूछकर—हमारे अधीन होकर—बोले। ऐसी अनेक विघ्न बाधायें थीं। एक सबसे बड़ी बाधा और हो

गयी। पहिले यह प्रश्न विशुद्ध धार्मिक था। हिन्दुओं की अपनी निजी धार्मिक मान्यता मानी जाती थी। स्वराज्य प्राप्त हो जाने पर अन्य धर्मावलम्बी भी अनुभव करने लगे कि जब देश का बँटवारा हो ही गया है तब भारतवर्ष से नियमानुसार गोहत्या बंद हो ही जानी चाहिये। मध्यप्रदेश ने तो स्वराज्य होते ही कानून पास कर दिया था, उत्तर प्रदेश बिहार में भी कानून बन गया। पंजाब में भी प्रतिबंध लग गया। तब राजनैतिक स्वार्थ सिद्धि वालों के कान खड़े हुए उन्होंने अल्प संख्यक और बहु संख्यक का प्रश्न उठाकर इस प्रश्न को शुद्ध राजनतिक प्रश्न बना दिया। वर्तमान समय की राजनीति इतनी गंदी है, कि जो प्रश्न राजनैतिक बन गया मानों उसकी छीछालेदर हो गयी। भगवान् की इच्छा कहिये, भाग्य का विधान कहिये, संयोग संस्कार कहिये, प्रारब्ध की क्रूर विडबना कहिये, गौ रक्षा का प्रश्न जो विशुद्ध धार्मिक था विशुद्ध राजनैतिकों के चक्कर में पड़कर उलझ गया। किसने इसे राजनैतिक बना दिया, अब इस बात को न पूछिये। यही कहना उचित होगा, कि भाग्य ने ही ऐसा वाभत्स्य कार्य कर डाला। लोग खिल्ली उड़ाते थे, बड़े गो भक्त बने थे, करा ली गो हत्या बंद, बन गया कानून। कुछ कहते थे ये कल के छोकड़े स्वयंभू नेता बने है। कुछ लोग कहते भारत केवल हिन्दुओ का ही देश थोड़े है, जैसे हिन्दुओं को गोरक्षा का अधिकार है, वैसे ही गैर हिन्दुओं को गोवध का भी अधिकार मिलना चाहिये। कुछ कहते—यदि देश से गोहत्या बंद हो जायगी, तो हम किस मुंह से गैर हिन्दुओं से वोट मांगने जायंगे। वोट भी गोरक्षा के बीच में आ गया। मुझे आश्चर्य हुआ हिन्दुओ मे ही कुछ लोग गो हत्या बन्दी के विरुद्ध थे, जीवन में पहिली बार यह बात सुनने में आई कि हिन्दु नाम धारी खुल्लम खुल्ला इसका

विरोध करने लगे। नहीं तो स्वराज्य के पूर्व एक भी हिन्दु ऐसा नहीं था, जो गो हत्या का समर्थन करे चाहे वह किसी भी दल का क्यों न हो। यह राजनीति क्या-क्या करा लेती है। संस्कृत साहित्य वालों ने राजनीति को वारांगना की उपमा दी है, वह अनेक रूपों में प्रकट होती है। इसके चक्कर में पड़ा मानव मानवता को तिलाञ्जलि दे देता है।

जबसे वृदावन गोव्रत और पुलिन वास मेला समाप्त हुआ, तबसे मन में एक बडी बेचैनी सी हो रही थी, क्या किया जाय, कैसे यह कार्य सम्पन्न हो, जिनसे पूरी सहयोग की आशा थी, उनको और भी अनेकों कार्य थे, गौरक्षा का ही कार्य उनके लिये मुख्य नहीं था। इधर-उधर गये, जनता में तो जोश का ज्वार भाटा आता है, वह अधिक दिन स्थिर नहीं रहता। वैराग्य और बुखार चढ़ते उतरते रहते हैं।

इसी धुनी बुनी में पुनः प्रयाग का कुंभ आ गया। स्थान-स्थान पर गो रक्षा सम्मेलन हुए। किन्तु सम्मेलनों में प्रस्ताव पास हो गये; कर्तव्य की इतिश्री हो गयी। अपने भी पडाल में गोरक्षा सम्मेलन हुए प्रख्यात वक्ताओं ने प्रभावशाली भाषण दिये।

इसी बीच में हमारे एक सहयोगी बन्धु साधु ने अपने बल भरोसे पर इस प्रश्न को उभाडा वे कुछ साधुओं को साथ लेकर गये; संसद के सामने प्रदर्शन भी हुए जेल भी गये; जनता में कुछ जागृति भी आई, किन्तु मामला आगे बढ़ा नहीं। संस्थाओं ने सहयोग नहीं दिया। बड़े लोगों ने रुचि नहीं दिखायी। बात फिर वहीं की वहीं रह गयी।

मैं जैसे प्रायः प्रतिवर्ष श्रीबद्रीनाथ जाया करता था, उस वर्ष भी गया। मार्ग में मेरे मन में एक संकल्प उठा क्यों न मैं

अनशन करके अपने इस शरीर का परित्याग कर दूँ। जब स्वराज्य हो जाने पर भी एक वर्ष तक गोहत्या बंद नहीं हुई—जिसकी कि हम स्वराज्य के प्रथम दिन ही होने की पूर्ण आशा बाँधे बैठे थे, तब मेरे मन में आई क्यों न मैं इस प्रश्न पर अनशन करके शरीर को समाप्त कर दूँ। एक व्यक्ति ने आन्ध्र को मद्रास प्रान्त से पृथक् करने के प्रश्न पर अनशन करके शरीर समाप्त कर दिया था और उसके शरीरात के पश्चात् ही पृथक् आन्ध्र प्रान्त बन गया, तो उसी से मुझे प्रेरणा मिली। जब एक प्रान्त को पृथक् करने के लिए उन्होंने शरीर त्याग दिया, तो मै गौ की रक्षा के लिये तन त्यागना चाहता हूँ। इसकी मैंने अपने परिचित बन्धुओं में चर्चा की। सबने असहमति प्रकट की, तत्कालोन राष्ट्रपति ने भी ऐसा न करने का आग्रह किया। अपनी भी कमजोरी थी, शरीर त्याग देना कोई सहज कार्य थोड़े ही है। उस समय वह इच्छा दब गयी। अब के वह पुनः प्रबल हो गयी। बहुत रोकने पर भी मै अपने को रोक न सका और मैंने इसकी घोषणा कर ही तो दी। 'कल्याण' में एक लेख प्रकाशित किया और यह भी निवेदन कर दिया—जो मेरे साथ अनशन करना चाहें, वे भी अपने नाम भेजें। बहुत से लोगों ने नाम भेजे।

उस समय कोई दंभ नहीं था, बनावट नही थी, सन्देह भी नहीं था, यह दृढ़ निश्चय था, कि अब तो शरीर छूट ही जायगा। अपनी अन्तरात्मा को टटोला, कोई वासना तो नही है। सोचते-सोचते मन में आया, एक बार समस्त तीर्थों की यात्रा और करलें। अनशन को तिथि हमने गोपाष्टमी रखी थी, लगभग एक वर्ष का समय था। सोचा अब के अंतिम बार खूब धूम-धाम से तीर्थों की यात्रा कर लें।

जब दधीचि मुनि से देवता लोग वृत्रासुर को मारने को उनकी हड्डी माँगने गये, तब ऋषि ने कहा—"शरीर तो मैं त्याग दूँगा, तुम मेरी अस्थियों से वज्र बना लेना, किन्तु मेरी इच्छा समस्त तीर्थों की यात्रा करने की शेष है।"

देवताओं का तो स्वार्थ था, वे सोचने लगे—"न जाने ऋषिवर कितने दिनों तक तीर्थ यात्रा करते रहें। उन्हें तो अपनी स्वार्थ सिद्धि की शीघ्रता थी देवताओं ने कहा—"ब्रह्मन् ! आप तीर्थों में कहाँ भटकते फिरोगे तीर्थ यात्रा में बड़ा कष्ट होता है। आपको तो तीर्थों में स्नान ही करना है न? हम यदि सब तीर्थों को यहीं बुला दें तो?"

ऋषि को इसमें क्या आपत्ति होनी थी। ऋषि जिस तीर्थ का नाम लेते वही तीर्थ देवताओं के प्रभाव से वहाँ आ जाता।" इस प्रकार दधीचि मुनि ने तो नैमिषारण्य में बैठे ही बैठे सब तीर्थ कर लिये। मेरे लिये सब तीर्थों को कौन बुलाता? इसलिये एक तीर्थ यात्रा गाड़ी चलाने का निश्चय किया। वृंदावन से श्री बलदेवाचार्य प्रतिवर्ष गाड़ी ले जाते थे उन्हीं की वह गाड़ी थी, मुझे न उससे कुछ हानि थी, न किसी प्रकार का आर्थिक लाभ? आलोचकों ने तो झूठा हल्ला उड़ा दिया—ब्रह्मचारी जी को इससे इतना लाभ हुआ है।" किन्तु यह एक दम सफेद झूठ। जिनकी गाडी थी लाभ उन्हीं को हुआ होगा।

एक बात और है। प्राणी स्वभाव के वशीभूत होकर ही सब कार्य करता है। एक राजा के पुत्र हुआ। उस पुत्र के जैसे सबके चौक के आगे चार दाँत होते है, उसके तीन ही दाँत थे। प्रायः चार के स्थान में दो दाँत वाले तो बहुत मिल जाते है, तीन दाँत वाले कोई विरले ही होते हैं। तीन दाँत होना दोष माना जाता है। ज्योतिषियों ने राजा से कहा—"महाराज! इस लड़के को

आप अपने राज्य से निकाल दें नहीं तो यह आप के राज्य को चौपट कर देगा।"

उन दिनों ज्योतिषियों को बहुत चलती थी। राजा ने राजकुमार को निकाल दिया। फिर भी अपना पुत्र ही ठहरा। उसकी मासिक वृत्ति बाँध दी। १०-५ हजार मासिक जहाँ भी वह रहता उसको भेज देते। जिस दिन उसे वृत्ति के रुपये मिलते उसी दिन वह उन्हें व्यय कर देता। २६ दिनों ऐसे ही मारा-मारा फिरता रहता। उसके पास पैसे टिक ही नहीं सकते थे। प्राणी संस्कारों से विवश है। जिन पर यथेष्ठ धन है, वे चाहते हुए भी उन्हें व्यय नहीं कर सकते। उनके भाग्य में व्यय करना लिखा ही नहीं। अतः कोई कृपणता करे उसकी निंदा नहीं करनी चाहिये। कोई आते ही धन को आनन फानन में उड़ा दे उसकी स्तुति भी न करनी चाहिये, क्योंकि दोनों अपनी-अपनी प्रकृति से विवश होकर वर्ताव कर रहे हैं। जो दूसरों की निंदा करते हैं वे अच्छा काम नहीं करते। किन्तु वे भी विचारे क्या करें वे भी अपनी प्रकृति से विवश हैं, जिनकी निंदा करने की आदत है, वे विना निंदा किये रह ही नहीं सकते सभी स्वभाव के वशीभूत होकर पूर्व जन्म की प्रकृति के अनुसार वर्ताव कर रहे हैं।

मेरे भी तीन ही दाँत हैं, सब मुझे बालक पन में त्रिदंता-त्रिदंता कह कर चिढ़ाते थे। मेरे ऊपर भी सदा कर्जा लदा रहता है। लोग कहते हैं "तेते पैर पसारियो जेती लंबी सौर।" किन्तु मेरे पास सौर ही नहीं इसलिये खूब कसकर पैर फैलाता हूँ। खर्च लाखों का बंधी आमदनी नहीं के समान। कर्जा बना ही रहता है। हमारे स्वर्गीय जुगलकिशोर जी विरला कहा करते थे—"ब्रह्मचारी जी की यह आदत मुझे बहुत बुरी लगती है, वे कर्जा कर लेते हैं।" किन्तु मैं जान बूझ कर थोड़े ही करता हूँ,

हो जाता है। वे तथा कानपुर की मौजी प्रायः मेरे कर्जों को चुकाते रहते थे। अब दोनों ही परलोक वासी बन गये। अब श्यामसुंदर किसी दूसरे से चुकवाते हैं। उन्हीं का एक मात्र सहारा है। उनकी कृपा के अतिरिक्त मेरे पास और है ही क्या ?

हाँ तो उस समय मैंने विचारा मेरे ऊपर कितना कर्जा है। सोचने पर लगभग दस हजार निकला। अपने एक घनिष्ट सम्बन्धी से कहा। उन्होंने वचन दिया—"मैं दस हजार रुपये दे दूँगा।" इस प्रकार सबसे निश्चिन्त होकर मैंने मरने का निश्चय कर लिया।

स्थान तो भर गया। अब कैसे मृत्यु आई और कैसे मैं बच गया। इस प्रकरण को अगले खंड में पढ़िये।

छप्पय

आत्म लाभ भगवान सुयश निज नहीं लिखावैं।
चाहिँ प्रशंसा नहीं-नहीं वैभव दरसावैं॥
पूजा चाहें नहीं किन्तु करुनावश स्वामी।
स्वीकारें करि दया भक्त हित अन्तरजामी॥
मुख मंडित जैसो करो, तैसो दरपन में खिलै।
मान भक्त-जस करै प्रभु, तस ही ताही कूँ मिलै॥

गीता-माहात्म्य

[२]

(द्वितीय-अध्याय)

गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम् ।
गीता ज्ञानमुपाश्रित्य त्रींल्लोकान् पालयाम्यहम् ॥ *

(वाराह पुराण)

छप्पय

गीता को अध्याय दूसरो अति सुखदाई ।
प्रेम सहित पढ़ि, गुनै मुक्ति ताकी ह्वै जाई ॥
मित्रवान् द्विज कह्यो देवशर्मा तैं महिमा ।
ज्ञान द्वितिये अध्याय परमपद देवै जग माँ ॥
निज अनुभव द्विजतैं कह्यो, अजापाल बनि बसहु वन ।
करत-करत नित पाठ मम, अति ही इस्थिर भयो मन ॥

बोध के लिये बहुत अधिक पोथी पढ़ने की आवश्यकता नहीं होती । बोध तो एक बात से हो जाता है, जो शिक्षा मिले उसे जीवन में आत्मसात करले । तब तो वह शिक्षा फलवती होती

---

* श्री भगवान् कह रहे हैं—"मैं गीता के ही आश्रय से बैठता हूँ गीता ही मेरा सर्वोत्तम गृह है, गीता ज्ञान का आश्रय लेकर ही मैं तीनों लोकों का पालन करता हूँ ।

है, यदि केवल तोता रटन्त ही है, तो शास्त्रों को पढ़ लेने पर भी मूर्ख के मूर्ख ही बने रहोगे। क्रियावान पुरुष ही वास्तव में विद्वान है। यदि उपदेश लग जाय तब तो साधारण आदमी का भी एक वचन बहुत है। एक जिज्ञासु साधक थे। उनके बाल बच्चे समर्थ हो गये थे। वे सोच रहे थे—"अब चलकर वृन्दावन में वास करूँ, वहीं भगवत् भक्ति में जीवन बिता दूँ। फिर घर का मोह धर दबाता सोचते मेरे पौत्र बड़े हो जाँय पौत्री का विवाह हो जाय। लड़कों का काम कैसे चलेगा। फिर सोचते भगवान् सब चला देंगे।" इस प्रकार वे द्विविधा में पड़े हुए थे।

एक दिन अपनी दुकान के सामने खड़े हुए थे। सड़क पर झाड़ू देते-देते भंगिनि आई और बोली—"लाला जी, एक तरफ हो जाइये, एक तरफ हो जाइये।" लाला जी, का मोह भंग हुआ। वे जैसे बैठे थे, वैसे ही भजन करने श्री वृन्दावन चले गये, एक तरफ हो गये। किसी प्रकार एक भी उपदेश भली भाँति लग जाय, अन्तःकरण में घुसकर आर पार हो जाय। वही सच्ची लगन है।

लागी-लागी सब कहें, लागी बुरी बलाय।
लागी तब ही जानियो, जब आर पार ह्वै जाय॥

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! पिछली बार मैंने आपको श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम अध्याय का माहात्म्य सुनाया था। अब जिस प्रकार पार्वती जी के पूछने पर शिवजी ने उन्हें गीता के दूसरे अध्याय का माहात्म्य सुनाया, उसी को मैं आपको सुनाता हूँ, आप सावधानी के साथ श्रवण करने की कृपा कीजिये।"

भगवती पार्वती जी ने भोले बाला शंकर जी से फिर पूछा—

"प्राणनाथ! गीता के प्रथम अध्याय का तो मैं माहात्म्य सुन चुकी, आप कृपा करके मुझे द्वितीय अध्याय का माहात्म्य और सुना दीजिये।"

इस पर भोले बाबा शंकर जी ने कहा—प्रिये! यही प्रश्न लक्ष्मी जी ने पुनः भगवान् विष्णु से पूछा था, उसी को मैं आपको सुनाऊँगा।

लक्ष्मी जी ने कहा—"प्रभो! अब आप मुझे श्रीमद्भगवत्-गीता के दूसरे अध्याय का माहात्म्य सुना दो।"

भगवान् ने कहा—"भामिनि! तुम दत्त चित्त होकर द्वितीय अध्याय के माहात्म्य को श्रवण करो। प्राचीनकाल में दक्षिण दिशा में पुरन्दर पुर नाम का एक बड़ा ही समृद्धशाली नगर था। वह नगर ब्राह्मीश्री से युक्त था, उसमें स्वधर्म में निरत जप अनुष्ठान करने वाले अतिथियों से पूजक ब्राह्मण निवास करते थे। उन्हीं ब्राह्मणों में से देवशर्मा नाम के एक शान्त दान्त संयमी सदाचारी कर्तव्य परायण ब्राह्मण थे। वे अतिथियों के पूजक, स्वाध्यायशील, वेदशास्त्रों के विशेषज्ञ, यज्ञ यागों में लगे रहने वाले द्विज थे। वे सदा कर्मकांड में निरत रहते। द्रव्यों के द्वारा अग्नि में हवन करके निरन्तर देवताओं को सन्तुष्ट करते रहते थे। इस प्रकार वे धर्मात्मा ब्राह्मण चिरकाल तक वैदिक कर्मकाण्डों में निरत रहे, किन्तु उन्हें निरन्तर रहने वाली शाश्वती शान्ति की प्राप्ति नहीं हुई। वे निरन्तर यही सोचते रहते थे, कि मेरी साधना में क्या त्रुटि रह गयी है, मुझमें ऐसी कौन सी कमी अवशेष है, जिससे मुझे कभी भी नष्ट न होने वाली शांति नहीं मिल रही है। वे अतिथियों के परम भक्त थे, जो भी उनके घर पर अतिथि के रूप में आ जाता, उनको यथा साध्य यथा शक्ति सभी द्रव्यों से पूजा करते। उनका स्नेह पूर्वक आतिथ्य सत्कार करते। उनके

आतिथ्य तथा प्रेम पूर्वक बर्ताव के कारण उनके यहाँ बड़े-बड़े सत्य-संकल्प संत महात्मा तथा तपस्वी पुरुष आने लगे। वे सभी के सम्मुख शाश्वती शांति के लिये प्रार्थना करते। एकदिन उनके यहाँ एक बड़े ही त्यागी विरागी शांत महात्मा पधारे। ब्राह्मण ने उनका भक्ति भाव से स्वागत सत्कार किया। उनकी विधिवत् पूजा की अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट पदार्थों द्वारा श्रद्धासहित उन्हें भोजन कराया। जब वे महात्मा प्रसाद पाकर आराम करने लगे, तब उनके चरणों को दबाते हुए ब्राह्मण ने उनसे प्रश्न किया—"भगवन् आप पूर्ण अनुभवी हैं, आपका चित्त परमशांत है, आपको किसी संसारी वस्तु की आकांक्षा भी नहीं है. आपनिरन्तर ध्यान में ही निमग्न रहते हैं। ऐसी स्थिति आपको किस साधन द्वारा प्राप्त हुई। प्रभो! मुझे शांति नहीं। शाश्वती शांति कैसे प्राप्त हो, कृपा करके इसका उपाय मुझे बता दें यदि आप मुझे इसका अधिकारी समझते हों तो?"

यह सुनकर वे संत कुछ देर सोचते रहे और फिर बोले—"ब्रह्मन्! मैं आपके इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता। हाँ, मैं एक ऐसे व्यक्ति को बता सकता हूँ, जो आपके इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर दे सकता है।"

देवशर्मा ने कहा—"ब्रह्मन्! आप मुझे उन्ही महापुरुष का पता बता दें, जो मुझे उचित साधन बता सकें। उनका क्या नाम है?"

महात्मा ने कहा—"उन महापुरुष का नाम है, मित्रवान्।"

देवशर्मा ने पूछा—"प्रभो! वे महात्मा कहाँ रहते हैं? क्या कार्य करते है, मुझे उनके दर्शन कैसे प्राप्त हो सकेंगे?"

महात्मा ने कहा—"वे संत महात्मा का वेष बनाकर घर-घर भिक्षा नहीं माँगते फिरते। वे तो सर्व साधारण मनुष्य के वेष में सौपुर नाम के ग्राम में निवास करते है, नगर के उत्तर भाग

में एक विशाल वन है, उसमें वे बकरी चराया करते हैं। ये बकरियों के चराने वाले के नाम से विख्यात हैं। सोपुर ग्राम बहुत विख्यात है बहुत समृद्धशाली है, वहां जाकर पूछने से सभी उन बकरी वाले चरवाहे का पता बता देंगे।"

यह सुनकर देवशर्मा को बड़ा हर्ष हुआ। महात्मा के चले जाने के पश्चात् वे सोपुर नाम के ग्राम में गये, जिस वन में वे बकरियों को चराया करते थे, लोगों ने उसका पता बता दिया। देवशर्मा उसी वन में चले गये। उन्होंने वहाँ जाकर क्या देखा कि वह वन बड़ा विशाल है, उसके समीप ही एक छोटी सी नदी, कल-कल करती हुई मंद-मंद गति से बह रही है, बहुत सी बकरियाँ उस वन में चर रही हैं। नदी के तट पर एक बहुत बड़े शिला खंड पर—एक व्यक्ति बैठा है। उसके नेत्र आनन्दातिरेक से निश्चल हो रहे है। वह शून्य में निहार रहा है, उसके पलक नहीं गिरते। वह ध्यानमग्न अवस्था में बैठा हुआ है। देव शर्मा समझ गया, ये ही मित्रवान् हैं।

उस वन में प्रवेश करते ही देवशर्मा का मन प्रसन्न हो गया। वह वन परम शांत था, उसमें शीतल मंद सुगन्धित वायु बह रही थी, चारों ओर शान्ति का साम्राज्य छाया हुआ था, मृगों के झुंड के झुंड शान्त भाव से विचरण कर रहे थे, कुछ वृक्षों के नीचे बैठे जुगार कर रहे थे, बहुत से सिंह व्याघ्र अपनी स्वाभाविक हिंसा की वृत्ति का त्याग कर घूम रहे थे। सभी जीव परस्पर का स्वाभाविक विरोध त्याग कर मित्र भाव से विचरण कर रहे थे। परस्पर विरोधी जन्तु एक साथ रहते हुए किसी को कष्ट नहीं पहुँचा रहे थे। सिंह और बकरी एक ही घाट पर पास-पास में पानी पी रहे थे। सब निर्भय होकर वन में भ्रमण कर रहे थे। मित्रवान् सबके ऊपर कृपा की दृष्टि फेरता हुआ

मानों अमृत छिड़क रहा हो। देवशर्मा उस वन की शांति देखकर परम विस्मित हो गया। वह शनैः शनैः मित्रवान् के समीप गया। मित्रवान् ने जब देवशर्मा को देखा तो उसने हाथ जोड़कर सिर झुका कर उन्हें प्रणाम किया। मित्रवान् के अभिवादन को स्वीकार करते हुए देवशर्मा ने उनसे पूछा—"महाभाग! आप परम शांत है, आपके इस वन में भी ब्राह्मी श्रीविराजमान है, चारों ओर परम शांति छायी हुई है, इसका क्या कारण है। मैं आत्म-ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ, जिससे मुझे शाश्वती शांति प्राप्त हो। आप मुझे ऐसा कोई साधन बतावें जिससे मेरी चिरकाल की अभिलाषा पूरी हो। आप मुझे ऐसा उपदेश करें जिससे मुझे परम सिद्धि प्राप्त हो सके।"

यह सुनकर वह अजापाल मित्रवान् परम प्रसन्न हुआ। कुछ देर शांत गम्भीर भाव से कुछ सोचता रहा। फिर बड़ी ही गम्भीर वाणी से उसने कहना आरम्भ किया—"द्विजवर! मै आपको अपना अनुभव सुनाये देता हूँ, उसी से आपके प्रश्नों का उत्तर मिल जायगा। मै चिरकाल से इसी वन में बकरियों को चराता रहता हूँ। एक दिन की बात है, कि मै बकरियों को चरा रहा था, उसी समय एक भयंकर व्याघ्र मुझे अपनी ही ओर आता हुआ दृष्टि गोचर हुआ। मै भय के कारण कांपने लगा। मैंने बकरियों को बड़े वेग से भगाया और स्वयं भी उनके पीछे-पीछे पूरी शक्ति से भागने लगा। भागते-भागते हम नदी के किनारे आ पहुँचे। व्याघ्र भी हमारा पीछा कर रहा था। उसी समय मैने एक अद्भुत घटना देखी।"

देवशर्मा ने पूछा—"आपने कौन सी अद्भुत घटना देखी?"

मित्रवान् ने कहा—"हमारी बकरियों में से एक बकरी एक स्थान पर निर्भय होकर खड़ी हो गयी। वह व्याघ्र भी पीछा

करता हुआ वहाँ आ गया और वह भी शांत भाव से बकरी के पास खडा हो गया। व्याघ्र को अपने समीप शांत भाव से खड़ा देखकर बकरी ने कहा—"व्याघ्र ! तुम खड़े क्यों हो, मुझे खाकर अपनी भूख को शान्त क्यों नही कर लेते, तुम्हें तो तुम्हारे अनुकूल अभीष्ट भोजन प्राप्त हुआ है। मुझे मार कर मेरे मांस से अपनी तृप्ति कर लो।"

व्याघ्र ने कहा—"यद्यपि मुझे आज बहुत भूख लग रही है, फिर भी न जाने क्या बात है तुम्हें मारकर खाने का मेरा मन नहीं कर रहा है ?"

बकरी ने पूछा—"बात क्या है, तुम तो शिकार को पाते ही उस पर टूट पड़ने वाले व्याघ्र हो, तिस पर भी भूखे बाघ।"

व्याघ्र ने कहा—"तुम जो कहती हो, वह सब ठीक ही है किन्तु न जाने क्यों इस स्थान पर आते ही मेरा सभी वैरभाव समाप्त हो गया है, मेरी भूख प्यास भी चली गयी। मैं एक अपूर्व शान्ति का अनुभव कर रहा हूँ।"

बकरी ने कहा—"तुम सच कहते हो, मै तो व्याघ्रका नाम सुनकर ही भय से थर-थर काँपने वाली बकरी हूँ, किन्तु इस स्थान पर आते ही न जाने क्यों मेरा भय भग गया है, मै अपने को सर्वथा निर्भय अनुभव कर रही हूँ। आप इसका कारण जानते हैं ?"

व्याघ्र ने कहा—"मैं तो जानता नही। अवश्य ही कोई इस स्थान में विलक्षण बात है। चलो सामने खड़े हुए इन अजापाल महापुरुष से पूछें।"

मित्रवान् देवशर्मा से कह रहे हैं—'ब्रह्मन् ! उन दोनों की बातें मै दूर खड़ा-खड़ा सुन रहा था। मुझे खड़ा देखकर मेरी अन्य बकरियाँ भी वहाँ निर्भय होकर खड़ी हो गयीं।

मुझे भी उस स्थान में परम शान्ति का अनुभव होने लगा। वह बकरी और व्याघ्र मेरे समीप आये और मुझसे ही पूछने लगे। व्याघ्र ने मुझसे पूछा—"महाभाग! आप जानते है, हमारा स्वाभाविक बैर यहाँ आकर क्यों छूट गया? मेरी भूख प्यास यहाँ क्यों समाप्त हो गयी।"

उन दोनों के ऐसे मैत्री भाव को देखकर मुझे भी परम विस्मय हो रहा था। मैंने कहा—"व्याघ्रराज! मैं भी इसका कारण नहीं जानता। मैं भी मानसिक शांति का इस स्थान पर आते ही अनुभव कर रहा हूँ। इस सघन वृक्ष पर एक बहुत ही बूढ़ा वानरराज विराजमान् है। सम्भव है, उसे इसका कारण मालूम हो। हम सब चलकर इस वानरराज से इसका कारण पूछें।"

मित्रवान् कह रहे हैं—"सो, ब्रह्मन्! हम तीनों ही उस बानरराज के समीप गये। मैंने वानर को सभी बात बताकर उससे पूछा—"इस स्थान में आते ही सबका स्वाभाविक वैरभाव क्यों छूट गया है। यदि आप इसका कारण जानते हों, तो हमें बतावें।"

इस पर बानरराज ने कहा—"अजापाल जी! यह बडी ही रहस्यमयी बात है। इसके पीछे एक अत्यन्त प्राचीन इतिहास है, उसे मैं आपको सुनाता हूँ, आप सब उसे दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

यह जो वन में सम्मुख आपको बहुत प्राचीन बडा भारी मन्दिर दिखायी देता है, इसमें एक बहुत ही प्राचीन शिवलिङ्ग है, सुनते हैं स्वयं ब्रह्माजी ने इस शिवलिङ्ग की स्थापना की थी। इस मन्दिर में कुछ दिन पूर्व एक सुकर्मा नाम के महात्मा रहते थे। वे बड़े ही विनम्र संयमी तथा सदाचारी थे। नित्य प्रति वन से चुन-चुनकर पुष्प तथा बिल्वपत्र लाते, नदी से जल लाकर

शिवजी की श्रद्धा से पूजा करते और वन के कन्द मूल फल लाकर उन्हें भगवान् के अर्पण करके उन्हीं से अपना निर्वाह करते तथा जो अतिथि अभ्यागत आ जाते उनका भी उन्हीं वन्य फल मूलों से स्वागत सत्कार करते। इस प्रकार शिवजी की आराधना करते उन्हें बहुत वर्ष व्यतीत हो गये।

एक दिन एक बहुत ही योग्य अतिथि उनके समीप आये। सुकर्मा ने उनका बड़ी श्रद्धाभक्ति से स्वागत सत्कार किया। उन्हें वन से कन्द मूल फल लाकर भोजन कराया। जब वे भोजन करके विश्राम करने लगे, तब सुकर्मा ने उनसे पूछा—"ब्रह्मन्! मैं यहां रह कर शिव जी की सेवा करता हूँ।"

उन माहात्मा ने पूछा—"आप किस कामना से शिवजी की आराधना करते हैं?"

सुकर्मा ने कहा—"विद्वन्! मैं केवल तत्त्वज्ञान की अभिलाषा से ही शिवजी की आराधना करता हूँ। मेरी कोई संसारी वासना नहीं। मैं शाश्वती शान्ति चाहता हूँ। मेरा अहोभाग्य जो आज आपके देवदुलभ दर्शन प्राप्त हुए। आप मेरे ऊपर अनुग्रह करें। परम शान्ति के लिये मुझे आप कोई उपाय बतावें।"

वे महात्मा सिद्ध थे, तपोधन और ब्रह्मवेत्ता थे। सुकर्मा के सद्व्यवहार से और उनके विनीत मधुर वचनों से वे बड़े प्रसन्न हुए। उन्होने एक शिलाखंड पर गीता का द्वितीय अध्याय लिख दिया। और सुकर्मा से कहा—"ब्रह्मन् आप इसका ही पाठ नित्य प्रति श्रद्धा भक्ति के साथ किया करें। इसी से आपको परम सिद्धि प्राप्त हो जायगी।" ऐसा कहकर वे महापुरुष सुकर्मा के देखते ही देखते वहीं उसी स्थान पर अन्तर्धान हो गये।

वानरराज अजापाल से कह रहा है—"सो अजापाल सुकर्मा ब्राह्मण गीता के द्वितीय अध्याय को प्राप्त करके कृतार्थ हो गया।

वह नित्य प्रति अत्यंत श्रद्धा भक्ति से गीता के दूसरे अध्याय का पाठ करता मनन करता और निरंतर उसी के चिंतन में निमग्न रहता। दीर्घकाल तक निरालस्य होकर वह यही तपस्या करता रहा। इसके कारण उसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया। उन्हीं की तपस्या के प्रभाव से यह वन इतना शांत है, वे यहां से जाकर और भी अनेक स्थानों में रहे। वे जहां-जहां भी रहे वही स्थान तपोवन बन गया। वहाँ शीत उष्ण, भूख प्यास, रागद्वेष आदि की समस्त बाधायें दूर हो गयीं। इसी कारण बकरी और व्याघ्र अपने स्वाभाविक वैर भाव को भूलकर परस्पर में मैत्री भाव का व्यवहार करने लगे हैं।"

अजापाल मित्रवान् देवशर्मा से कह रहे हैं—"सो, ब्रह्मन्! बानरराज के कहने पर मैं बकरी और व्याघ्र के साथ उस जीर्ण शीर्ण मन्दिर के निकट गया। वहाँ एक शिला पर गीता का द्वितीय अध्याय खुदा था। मैंने उसे पढ़ा और कंठस्थ कर लिया। उसी की निरन्तर आवृत्ति करने से मैंने तपस्या का पार पा लिया है, शाश्वती शांति की उपलब्धि करली है। आप भी गीता के द्वितीय अध्याय को पढ़ो, उसका मनन करो और नित्य उसी की आवृत्ति किया करो आपको परमशांति प्राप्त हो जायगी।"

देवशर्मा यह सुनकर अत्यंत प्रसन्न हुआ उसने मित्रवान् का अभिनन्दन किया, उनका पूजन किया और प्रणाम करके अपने नगर पुरन्दर पुर की ओर चल दिया। वहाँ एक देवालय में सुकर्मा मुनि मिल गये। देवशर्मा ने कहा—"ब्रह्मन् मैं गीता का द्वितीय अध्याय आपके ही श्रीमुख से पढ़ना चाहता हूँ। आप मुझे उसका गूढ़ रहस्य समझा दें।"

यह सुनकर सुकर्मा मुनि परम प्रसन्न हुए। देवशर्मा को सच्चा अधिकारी समझ कर उन्होंने उनको गीता के दूसरे

अध्याय का उपदेश दिया। महामुनि सुकर्मा से उपदेश पाकर देवशर्मा कृतार्थ हो गये। वे नित्य नियम से गीता के दूसरे अध्याय का पाठ किया करते इसी से उन्होंने परमपद को प्राप्त कर लिया।

भगवान् विष्णु श्री लक्ष्मी जी से कह रहे हैं—"देवि ! यही श्रीमद्भगवत् गीता के दूसरे अध्याय का माहात्म्य है। अब तीसरे अध्याय का भी माहात्म्य मै तुम्हें सुनाऊँगा।

सूत जी शौनकादि मुनियों से कह रहे है—सो महाराज, यह मैंने आपको गीता के द्वितीय अध्याय का महात्म्य सुनाया। तृतीय अध्याय का आगे (इससे अगले खड में) सुनाऊँगा।

छप्पय

वन में बकरी चरहिं व्याघ्र इक भूखो आयो।
लै बकरी हौं भग्यो व्याघ्र निज वैर भुलायो॥
वन प्रभाव कपि कह्यो सुकर्मा पढ़िकें गीता।
नित दूसर अध्याय पाठ करि तजि भयभीता॥
अजापाल तैं सकल सुनि, भये देवशर्मा अभय।
पढ़ि दूसर अध्याय नित, छूटे सबको जगत भय॥

स्थितप्रज्ञ के लक्षण (२)

[२६]

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाऽभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
यदा संहरते चाऽयं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

[श्रीभग० गी० २ अ०, ५७, ५८ श्लो०]

छप्पय

सदा रहै निरलेप नहीं अनुकूल फूलत है।
नेह रहित व्यवहार नहीं प्रतिकूल दुखत है॥
कोई शुभ मिलि जाय हरष [illegible] ।
मिलि जावै यदि अशुभ द्वेष [illegible] ॥
इस्तुति निन्दातैं [illegible] बनावते ।
रहै प्रतिष्ठित बुद्धि [illegible], [illegible] कहावते ॥

प्रेम कहो, राग कहो स्नेह कहो, ये सब बन्धन के कारण हैं। संसार में अनेक प्रकार के बन्धन हैं, किन्तु प्रेम की रज्जु का बन्धन सबसे दृढ़ होता है, वह छुटाये नहीं छुटता। किसी संसारी वस्तु में –ससारी पुरुष में–जो सात्विक अनुराग होता है, उसे प्रेम कहते हैं। वही अनुराग यदि रजोगुण वाला हो, तो चित्त की वृत्तियों को तन्मय करने वाला—उसे रंगने वाला-राग कहलाता है तथा वही अनुराग तमोगुण से अभिभूत हो तो उसका नाम स्नेह है। जो स्नेहवान् है, वह रात्रिदिन जलता रहता है। स्नेह चिकनाहट को कहते हैं। दीपक में जब तक स्नेह चिकनाई –तेल-घी– रहेगा, तब तक जलता ही रहेगा। जहाँ स्नेह–चिकनाई–समाप्त हुई, तहाँ उसकी जलन भी समाप्त हो जाती है। इसीलिये जानकी जी ने हनुमान जी से कहा था—"हनुमान्! वे महात्मा ही धन्य हैं, जिनका न कोई प्रिय है न अप्रिय। जिनको प्रिय की प्राप्ति में कोई हर्ष नहीं, अप्रिय की प्राप्ति में कोई विषाद नहीं, जिनकी वृत्ति प्रिय और अप्रिय में दुःख तथा सुख में सम रहती है, ऐसे महात्माओं को मैं प्रणाम करती हूँ।" हनुमान्! मेरा राघव के प्रति स्नेह है, इसलिये मै अहर्निशि उन्हीं की स्मृति में जलती रहती हूँ।

एक बात और भी समझ लेनी चाहिये कि ये प्रेम, राग और स्नेह संसारी वस्तुओं में ससारी पुरुषों मे ही बन्धन के कारण हैं। यदि ये ही भगवान् के सम्बन्ध हों, तो श्रद्धा, रति भक्ति तथा प्रेम के नाम से अत्यन्त ही पवित्र होते हैं तथा भगवत् साक्षात् के प्रधान कारण बन जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन ने भगवान् से चार प्रश्न किये थे (१) स्थितप्रज्ञ किसे कहते हैं, (२) स्थितप्रज्ञ कैसे रहता है, (३) स्थितप्रज्ञ कैसे भाषण करता है, (४) और कैसे चलता फिरता

है। स्थितप्रज्ञ किसे कहते हैं, इसका उत्तर तो दे चुके अब वह कैसे बोलता है और कैसे रहता है, इन प्रश्नों का उत्तर दे रहे हैं। पहिले यही बतावेंगे कि उसके बचन कैसे होते हैं, वह बोलता है तो कैसी भाषा में बोलता है।

भगवान् कहते हैं—अर्जुन अपने से सम्बन्ध रखने वाली अपने को प्रिय लगने वाली वस्तुओं में स्नेह होना स्वाभाविक है जेव धर्म है, जो वस्तु हमें रुचिकर है उनके प्रति आसक्ति-राग हो ही जाता है, किन्तु स्थितप्रज्ञ पुरुष सभी पदार्थों में अनभिस्नेह-आसक्ति से रहित होता है। उसे इन्द्रियों के अनुकूल पदार्थ मिल जायँ, तो उनमें राग नहीं होता, प्रतिकूल मिल जायँ, तो द्वेप नहीं होता। शुभ मिल जायँ तो हर्ष नहीं होता अशुभ मिल जायँ तो विषाद् नहीं होता। अच्छे पदार्थ मिल जायँ तो सुख नहीं होता, बुरे पदार्थ मिल जायँ तो दुःख नहीं होता। जिसकी बुद्धि अनुकुल प्रतिकूल, शुभ अशुभ तथा दुःख सुख में सम रहती है, यदि अनुकूल अथवा शुभ पदार्थ प्राप्त हो जायँ तो उसका अत्यधिक अभिनन्दन नहीं करता उसे प्राप्त करके हर्षातिरेक में अन्धा नहीं हो जाता, फूलकर कुप्पा नहीं बन जाता, तथा प्रतिकूल अशुभ को प्राप्त द्वेप ईर्ष्या अथवा विषाद नहीं करता समझना चाहिये उसी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित है वही स्थितप्रज्ञ है।

शौनक जी ने पूछा—सूत जी ! सुख और दुःख तो हमें पूर्व जन्म के पुण्य पापों के अनुसार प्रारब्धवश ही मिलते हैं। उनके प्राप्त होने पर हर्ष विषाद का होना स्वाभाविक है। स्थितिप्रज्ञ महापुरुष का शरीर भी प्रारब्धानुसार ही रहता है, कैसा भी त्यागी विरागी हो उसे भी भोग प्रारब्धानुसार ही मिलते है। हमने ऐसे लोग देखे हैं, कि बड़े त्यागी, बड़े विद्वान्, बड़े वैराग्यवान् है, फिर भी उन्हें भोगने को सुन्दर-सुन्दर इन्द्रियों को सुख देने

वाले पदार्थ मिलते हैं, इसके विपरीत वैसे ही वैराग्यवान् त्यागी विरक्तमहापुरुषों को कभी-कभी भर पेट भिक्षा भी नहीं मिलती। तो अनुकूल में हर्ष और प्रतिकूल में विषाद के भाव तो प्रारब्धानुसार होंगे ?

सूत जी ने कहा—भगवन् ! यही एक समझने की बात है। आपका यह कहना यथार्थ है कि अनुकूल तथा प्रतिकूल भोग पदार्थ हमें पूर्व जन्म के पुण्य पाप रूपी प्रारब्धानुसार सी मिलते हैं, किन्तु प्रारब्धानुसार पदार्थ ही मिलते हैं, उनमें आसक्ति या स्पृहा तो अपनी ही है, वही "क्रियमाण. कर्मों के निर्माण में कारण बन जाती है, उसी से पुनः जन्म मरण के चक्कर में पड़ना पड़ता है। संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण तीन प्रकार के कर्म होते हैं। जन्म जन्मान्तरों के किये हुए कर्म जो संग्रहीत रहते हैं उन्हें. संचित कहते हैं, उनमें से एक जन्म के भोगने को जो वर्तमान शरीर को दिये जाते हैं, उन्हें प्रारब्ध कहते हैं. जो इस जन्म में कर्म करते हैं, वे क्रियमाण कहलाते हैं ! अब आप कहेंगे कि जब हम सब कर्म प्रारब्धानुसार ही करते हैं। आयु, कर्म, वित्त विद्या और मृत्यु ये पाँच वस्तुएं माता के पेट में ही निश्चित हो जाती है, तो फिर क्रियमाण कर्म कहाँ रहे। हम तो प्रारब्धानुसार ही कर्म करते है। तो इसे यों समझना चाहिये कि प्रारब्धानुसार तो भोग ही प्राप्त होते हैं। जैसे हमने कोई पूर्व जन्म में दान आदि पुण्य कर्म किया, उसके फल स्वरूप इस जन्म में हमें प्रारब्धवश खाने को रसगुल्ला प्राप्त हुए। आप उन रस गुल्लों को केवल प्रारब्ध भोग समझकर—निस्पृह भाव से—विना अभिनन्दन किये-पालेंगे तो इससे आपका प्रारब्ध तो क्षय हो जायगा, क्योंकि प्रारब्ध कर्मों का बिना भोग के क्षय नहीं होता. यदि आप की खाते समय उनमें स्पृहा होगी, ऐसे ही रसगुल्ले हमें और

मिलें, नित्य मिलें, उन्हें पाने का उद्योग करें तो यह क्रियमाण कर्म हो गया। इससे आप पुनर्जन्म के अधिकारी हो गये। क्योंकि जो स्पृहा—जो इच्छा एकबार उठी, उसे कभी न कभी भोगना अवश्य पड़ेगा। जो सुख दुख में सम रहता है, अनुकूल प्रतिकूल दोनों को ही प्रारब्ध भोग समझता है, उसके कर्म आगे को नहीं बनते। महाराज जनक के सम्बन्ध को ऐसी अनेकों कथायें प्रचलित है, कि किसी ने उनकी राजधानी में आग लगा दी। वे उसी प्रकार बिना विषाद के बैठे रहे कि मिथिला के जलने पर मेरा क्या जलेगा।

एक महात्मा थे, वे बैठे-बैठे लड्डू खा रहे थे। एक ने ईर्ष्यावश कहा—यह साधु काहे का है, यह तो स्वादु है, कैसे प्रेम से लड्डू खा रहा है। हम तो इसे महात्मा तब समझें जब यह इसी स्वाद से गोबर को भी खाय।"

वे परमहंस महात्मा स्वयं न माँगते थे न स्वयं खाते थे जो उनके मुख में कोई दे देता तो खा लेते थे। उस ईर्ष्यालु ने गोबर खिलाना आरम्भ किया और वे महात्मा इसी प्रकार १०, १५ सेर गोबर भी खा गये। इसी का नाम समबुद्धि है। लड्डू खाने का उन्होंने अभिनन्दन नहीं किया। गोबर खाने में उन्होंने द्वेष नहीं किया। दोनों को ही प्रारब्ध का भोग समझकर पा गये। उनका प्रारब्ध गोबर खाने का न होता, तो उस व्यक्ति की ऐसी बुद्धि होती ही नहीं। इसलिये प्रारब्धवश जो भोग प्राप्त हो उन्हें अवश्यम्भावी भोग समझ कर समभाव से पा ले, उनमें स्पृहा न करे। अब भगवान् तीसरे प्रश्न का उत्तर देते है कि स्थितप्रज्ञ पुरुष रहता कैसे है।

भगवान् कहते हैं—अर्जुन! स्थितप्रज्ञ पुरुष कछुए के समान है, जैसे कछुए की पीठ इतनी सुदृढ़ होती है, कि वह खड़्ग से भी

करती नहीं। इसी प्रकार स्थितप्रज्ञ विवेकी विद्वान् की धारणा भी ऐसे ही सुदृढ़ होती है, वह किसी भी संहात से प्रहार से विचलित नही होती जैसे कछुए के मुख और नीचे का भाग कोमल होता है, इसी प्रकार ज्ञानी का प्रारब्ध भोगोनमुख होता है, किन्तु कछुए में जैसे ऐसी सामर्थ्य होती है, कि वह जब चाहे तब बाहर की ओर निकले अपने समस्त अंगों को अपने भीतर समेट कर तुरन्त समाधिस्थ सा बन जाता है, वैसे ही स्थितप्रज्ञ का अपनी इन्द्रियों पर इतना अधिकार हो जाता है, कि वह जब चाहे तब अपनी समस्त इन्द्रियों को उनके विषयों से तुरन्त खींचकर-इन्द्रिय जित होकर—समाधि में निमग्न हो जाता है। साधारण संसारी लोग इन्द्रियों के अधीन होते हैं। इसीलिये वे इन्द्रियाराम कहलाते हैं। स्थितप्रज्ञ महापुरुष इन्द्रियो के अधीन नहीं होता, वह स्वयं इन्द्रियों को अपने अधीन कर लेता है। जब इसकी ऐसी स्थिति हो जाय, तब समझना चाहिये उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है। अर्थात् वह स्थितप्रज्ञ स्थिति को प्राप्त कर चुका है।

सूत जी कहते है—मुनियो! भगवान् ने तीसरे प्रश्न का उत्तर दिया कि स्थितप्रज्ञ ऐसी स्थिति में-आसीत-रहता है, अब इसी विषय को विस्तार के साथ भगवान् और भी सुस्पष्ट रूप से आगे बतावेंगे। उसे आप ध्यान पूर्वक श्रवण करें—

छप्पय

इन्द्रिय विषयनि पाइ स्वय विचलित ह्वै जावैं।
तिनि जे वश में रखैं वही ज्ञानी कहलावैं॥
जब चाहे तब कूर्म समेटे अपने अंगनि।
जब चाहे मुख हाथ पैर तैं भोगे भोगनि॥
जिनकी इन्द्रिय विषय में, स्वेच्छा तैं गहिँ जात हैं।
थिर धी तेई विज्ञ नर, स्थितप्रज्ञ कहात हैं॥

स्थितप्रज्ञ के लक्षण (३)

[३०]

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मन: ॥*

(श्रीभग० गीता २ अ० ५६, ६० श्लोक)

छप्पय

अजितेन्द्रिय जो पुरुप रोगवश भोग न पावैं।
करैं नियम व्रत तबहु रहित भोगनि ह्वै जावैं।
होवैं विषय निवृत्त किन्तु आसक्ति न जावै।
कब पावैं यह वस्तु वासना पुनि-पुनि आवै ॥
थिर धी जो बनि जात जन, दरश करैं परमात्म हू।
इन्द्रिय विषय वियोग करि, हटि जावै आसक्ति हू ॥

---

* इन्द्रियों को उनका आहार न दो तो वे विषयों से तो निवृत्त हो जाती हैं, किन्तु उनमेंकी आसक्ति निवृत्त नहीं होती, किन्तु स्थितप्रज्ञ की परमात्म दर्शन हो जाने के कारण आसक्ति भी निवृत्त हो जाती है।

हे कुन्तीनंदन ! यत्न करने पर भी बुद्धिमान पुरुष के भी मन को ये प्रमथनशील इन्द्रियाँ हठपूर्वक हरण कर लेती हैं ॥६०॥

सब इन्द्रियों में रसना इन्द्रिय सबसे प्रबल है। रसना को वश में कर लेने पर शब्द, रूप, गन्ध और स्पर्श ये अपने आप निवृत्त हो जाते है। महीने भर से जिसने भोजन नहीं किया है, उससे कहो, इत्र सूँघ लो, तो वह सूँघ तो लेगा, किन्तु उसे वह विशेष रुचिकर न होगा, उसे तो भोजन चाहिये। इसी प्रकार उसे सुख स्पर्श वाली वस्तुएँ, नेत्राभिराम वस्तुएँ, सुखद संगीत रूप सौंदर्य युक्त कामिनी कुछ भी अच्छी न लगेंगी जब पेट में चार मुट्ठि चावल पड़ते हैं, तभी रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द संबन्धी विषय सुखद और रुचिकर प्रतीत होते हैं। उपनिषदों में एक कथा आती है, कि आचार्य ने शिष्य से पूछा— तुम कौन-कौन विद्या जानते हो ? उसने बहुत सी विद्याओं का नाम गिनाया। ऋक्, यजु, साम और अथर्व मैं जानता हूँ। तब आचार्य ने उससे कहा—"इतने दिन निराहार व्रत करो।" उसने गुरु आज्ञा से अन्न छोड़ दिया। लंबे उपवास के कारण उसका चित्त विक्षिप्त हो गया। आचार्य ने पूछा—"अमुक वेद की अमुक ऋचा बोलो।" तो उसने कहा—"महाराज, मैं तो निराहार रहने के कारण सब कुछ भूल गया।" तब आचार्य ने समझाया जिसके बिना सब व्यर्थ हो जाता है वह अन्न ही ब्रह्म है। निराहार व्यक्ति के सभी विषय निवृत्त हो जाते हैं। किन्तु भीतर की वासना-इच्छा-स्पृहा नहीं जाती।

एक नट था, वह एक प्रकार की समाधि लगाना जानता था, एक नाड़ी होती है, उसका अवरोध करने पर एक प्रकार की अचेतनता हो जाती है, भूख प्यास का भान नहीं होता इसे जड़ समाधि कहते हैं। बहुत से व्यापारी बड़े-बड़े नगरों में जा-जा कर अधिकारियों से अनुमति लेकर ऐसी समाधि लगाते हैं। पृथिवी के भीतर गड्ढा खोदकर उसे ऊपर से बंद करा देते हैं

और उसमें महीने दो महीने बैठे रहते हैं। नियत समय पर लोग गड्ढे को खोदकर उसमें से उन्हें निकालते हैं, सहस्रों नर नारी उन्हें देखने आते हैं, रुपया, पैसा द्रव्य चढ़ाते हैं। वास्तव में यह धारणा ध्यान वाली समाधि नहीं है। यह तो जड़ समाधि है, परमार्थ में इसका कोई लाभ नहीं। यह तो एक व्यापार है, इससे साधारण अज्ञ लोगों को ठगा जा सकता है। पैसा पैदा किया जा सकता है। ब्रह्मानंद का आस्वादन इसके द्वारा नहीं हो सकता।

एक नट किसी राजा के पास गया और बोला—"अन्नदाता मैं ६ महीने बिना कुछ खाये पीये समाधि लगा सकता हूँ।"

राजा ने कहा—"तुम यदि ६ महीने बिना खाये पीये बने रहो, तो हम तुम्हें ५ गाँव और एक हाथी पारितोषिक रूप में देंगे।"

नट ने बड़े हर्ष पूर्वक इसे स्वीकार किया एक नाड़ी का अवरोध करके वह अचेतन राजमहल की एक एकान्त कोठरी में पड़ा रहा। राजा ने उसमें ताला डाल दिया। पाँच महीने तक वह उसमें पड़ा रहा। इसी बीच एक सीमावर्ती दूसरे राजा ने इन पर चढ़ाई की। इसे पराजित करके सपरिवार राज्य से बाहर निकाल दिया और किले पर-राज महल पर-अपना अधिकार जमा लिया। जब राजा अन्तःपुर में आया तो उसने सभी भवनों को देखा सबमें बड़ा भारी राज वैभव था। तब उसने सेवकों से कहा—"इस कोठरी में बड़ा सुदृढ़ ताला लगा है, इसे देखो, इसमें क्या है।" ताला तोड़कर देखा, तो उसमें बड़ी दाढ़ी केश वाला बढ़े हुए नख वाला एक समाधिस्थ पुरुष मिला। समाधि में अचेतना में भी दाढ़ी बाल, नख आदि तो बढ़ते ही रहते हैं।

सब इन्द्रियों में रसना इन्द्रिय सबसे प्रबल है। रसना को वश में कर लेने पर शब्द, रूप, गन्ध और स्पर्श ये अपने आप निवृत्त हो जाते हैं। महीने भर से जिसने भोजन नहीं किया है, उससे कहो, इत्र सूँघ लो, तो वह सूँघ तो लेगा, किन्तु उसे वह विशेष रुचिकर न होगा, उसे तो भोजन चाहिये। इसी प्रकार उसे सुख स्पर्श वाली वस्तुएँ, नेत्राभिराम वस्तुएँ, सुखद संगीत रूप सौंदर्य युक्त कामिनी कुछ भी अच्छी न लगेंगी जब पेट में चार मुट्ठि चावल पड़ते हैं, तभी रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द संबन्धी विषय सुखद और रुचिकर प्रतीत होते हैं। उपनिषदों में एक कथा आती है, कि आचार्य ने शिष्य से पूछा—तुम कौन-कौन विद्या जानते हो ? उसने बहुत सी विद्याओं का नाम गिनाया। ऋक्, यजु, साम और अथर्व मे जानता हूँ। तब आचार्य ने उससे कहा—"इतने दिन निराहार व्रत करो।" उसने गुरु आज्ञा से अन्न छोड़ दिया। लंबे उपवास के कारण उसका चित्त विक्षिप्त हो गया। आचार्य ने पूछा—"अमुक वेद की अमुक ऋचा बोलो।" तो उसने कहा—"महाराज, मैं तो निराहार रहने के कारण सब कुछ भूल गया।" तब आचार्य ने समझाया जिसके बिना सब व्यर्थ हो जाता है वह अन्न ही ब्रह्म है। निराहार व्यक्ति के सभी विषय निवृत्त हो जाते हैं। किन्तु भीतर की वासना-इच्छा-स्पृहा नहीं जाती।

एक नट था, वह एक प्रकार की समाधि लगाना जानता था, एक नाड़ी होती है, उसका अवरोध करने पर एक प्रकार की अचेतनता हो जाती है, भूख प्यास का भान नहीं होता इसे जड़ समाधि कहते है। बहुत से व्यापारी बड़े-बड़े नगरों में जा-जा कर अधिकारियों से अनुमति लेकर ऐसी समाधि लगाते हैं। पृथिवी के भीतर गड्डा खोदकर उसे ऊपर से बंद करा देते है

और उसमें महीने दो महीने बैठे रहते हैं। नियत समय पर लोग गड्ढे को खोदकर उसमें से उन्हें निकालते हैं, सहस्रों नर नारी उन्हें देखने आते हैं, रुपया, पैसा द्रव्य चढ़ाते हैं। वास्तव में यह धारणा ध्यान वाली समाधि नहीं है। यह तो जड़ समाधि है, परमार्थ में इसका कोई लाभ नहीं। यह तो एक व्यापार है, इससे साधारण अज्ञ लोगों को ठगा जा सकता है। पैसा पैदा किया जा सकता है। ब्रह्मानंद का आस्वादन इसके द्वारा नहीं हो सकता।

एक नट किसी राजा के पास गया और बोला—"अन्नदाता मैं ६ महीने बिना कुछ खाये पीये समाधि लगा सकता हूँ।"

राजा ने कहा—"तुम यदि ६ महीने बिना खाये पीये बने रहो, तो हम तुम्हें ५ गाँव और एक हाथी पारितोषिक रूप में देंगे।"

नट ने बड़े हर्ष पूर्वक इसे स्वीकार किया एक नाड़ी का अवरोध करके वह अचेतन राजमहल की एक एकान्त कोठरी में पड़ा रहा। राजा ने उसमें ताला डाल दिया। पाँच महीने तक वह उसमें पड़ा रहा। इसी बीच एक सीमावर्ती दूसरे राजा ने इन पर चढ़ाई की। इसे पराजित करके सपरिवार राज्य से बाहर निकाल दिया और किले पर-राज महल पर-अपना अधिकार जमा लिया। जब राजा अन्तःपुर में आया तो उसने सभी भवनों को देखा सबमें बड़ा भारी राज वैभव था। तब उसने सेवकों से कहा—"इस कोठरी में बड़ा सुदृढ़ ताला लगा है, इसे देखो, इसमें क्या है।" ताला तोड़कर देखा, तो उसमें बड़ी दाढ़ी केश वाला बढ़े हुए नख वाला एक समाधिस्थ पुरुष मिला। समाधि में अचेतना में भी दाढ़ी बाल, नख आदि तो बढ़ते ही रहते हैं।

राजा ने समझा कोई बड़े भारी योगी महात्मा हैं, पहिले राजा के गुरु होंगे समाधि सम्पन्न होंगे। जब तक इनकी समाधि व्युत्थान न हो, तब तक इनकी सावधानी से देख-रेख की जाय। सेवक उसकी देख-रेख करने लगे। उनके सम्मुख धूप जलाते, पुष्प चढ़ाते। राजा भी नित्य दर्शनों को आते।

६ महीने की अवधि समाप्त होते ही उनकी वह जड़ समाधि खुली। दैवयोग से राजा भी वहीं थे। राजा ने जब देखा, योगिराज की समाधि खुल रही है। हाथ पैर हिलाने लगे हैं, तो उसे बड़ी प्रसन्नता हुई।

समाधि खुलते ही उसने दीनता के स्वर में कहा—"महाराज की जय हो, अब मुझे मेरा पारितोषिक मिलना चाहिये। अब मुझे ५ गाँव और एक हाथी दीजिये।"

यह सुनकर राजा अवाक् रह गया। उसने पूछा—"कैसा पारितोषिक? कैसे गाँव! कैसा हाथी?"

तब उसने कहा—"सरकार! आपने वचन दिया था, कि ६ महीने की समाधि लगाओगे, तो तुम्हें ५ गाँव एक हाथी पारितोषिक रूप में मिलेगा।"

राजा ने कहा—"मैंने तो तुम्हें वचन नहीं दिया था। मैंने तो अभी १५ दिन हुए उस राजा को पराजित करके इस राजमहल पर अधिकार किया है, तुम कौन हो?"

उसने कहा—"अन्नदाता! मैं नट हूँ पहिले महाराजा ने मुझे वचन दिया होगा। ६ महीने में क्या हुआ मुझे पता ही नहीं।"

यद्यपि ६ महीने तक उसने अपनी सभी इन्द्रियों को उनके आहारों से सर्वथा वंचित रखा। शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श सुख से इन्द्रियों का संयोग नहीं होने दिया उन्हें विषयों से पृथक्

रखा, किन्तु समाधि से पूर्व जो उसकी ५ गाँव और एक हाथी पाने की वासना-स्पृहा-इच्छा थी। प्राप्त करने का रस लेने का जो संकल्प था, वह उसका निवृत्त नहीं हुआ था। वासना या रस बना रहा। यदि यह समाधि इसकी सच्ची ज्ञान की समाधि होती, तो ५ गाँव की तो बात ही क्या अखिल ब्रह्माण्ड का आधिपत्य भी उसके लिये तुच्छ था।

इसी प्रकार एक राजा है, उसे सद्गुरु कृपा से पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया। वह राज्य पाट को छोड़कर वन में चला गया और वहाँ श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करता हुआ काल यापन करने लगा। उसका एक पड़ोसी राजा था, उसने उस पर चढ़ाई कर दी। उसे राज्य से निकाल दिया। राज्यभ्रष्ट होने पर वह वन में वास करने लगा। समस्त राजसी भोगों से निवृत्त हो गया, किन्तु राज्य की वासना तो उसे बनी ही रही। कालान्तर में उसके मित्र राजा ने उस राजा को परास्त कर दिया इसे बुलाकर पुन: राज्य दे दिया। वासना बनी रहने से यह तो वन में रहकर भी पुन: राजा हो गया। दूसरा जो ज्ञान पूर्वक त्याग करके गया था, वह संसार से ही मुक्त हो गया। इसलिये बंधन का कारण वासना है, इच्छा या स्पृहा है।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने कछुए का दृष्टान्त देकर यह बताया—कि जैसे कछुआ जब चाहता है, तब अपने अंगों को अपने भीतर समेट लेता है, इसी प्रकार ज्ञानी जब चाहता है तभी अपनी इन्द्रियों को विषयों से हटा लेता है। इस पर अर्जुन ने शंका की कि इन्द्रियों को विषयों से तो दंभी भी हटा लेते हैं, रोगी भी विषयों से निवृत्त हो जाते हैं। अज्ञानी भी निराहार रहकर किसी कामनावश विषयों को त्याग देते हैं।" तो क्या ये सबके सब आत्मा को प्राप्त

लेते हैं ? इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं–"देखो, अर्जुन! मूढ़ पुरुष तथा रोगी पुरुष भी किसी कारणवश इन्द्रियों के द्वारा इन्द्रियों के तद् तद् विषयों से निवृत्त हो जाते हैं। इन्द्रियों द्वारा उनके विषयों को ग्रहण नहीं करते हैं किन्तु उनका उन विषयों में राग तो बना ही रहता है! एक महीने निराहार रहे, रसना इन्द्रिय को चखने को रस नहीं दिये, किन्तु वह यह तो सोचता ही रहता है, एक महीने पश्चात् यह खाऊँगा, वह खाऊँगा, अमुक वस्तु का रसास्वादन करूँगा।" यह वासना तो बनी ही रहती हैं। इस वासना के बने रहने के कारण विषयों का बाह्य त्याग यथार्थ त्याग नहीं कहा जा सकता। यथार्थ त्याग तो वही है, कि विषयों के त्याग के साथ उनके पुनः प्राप्त करने की इच्छा, फिर से रसास्वादन की स्पृहा भी नष्ट हो जाय। विषयों के प्रति राग रहे ही नहीं। विषयों के संग में राग भी समूल नष्ट हो जाय। यह विषयों के प्रति राग तो तभी नष्ट हो सकेगा जब पुरुष को परम पुरुषार्थ रूप ब्रह्म का परमात्मा का साक्षात्कार हो जाय। ब्रह्म साक्षात् करके जिसका विषयों के प्रति राग नष्ट हो गया है, उसे ही स्थितप्रज्ञ समझना चाहिये।

सूत जी कहते हैं—इस पर शंका होती है कि मन और इन्द्रियाँ तो बुद्धि के–प्रज्ञा के अधीन हैं। प्रज्ञा के प्रतिष्ठित करने के लिए विवेक वैराग्य धारण करके प्रज्ञा को वश में कर ले। फिर मनोनिग्रह तथा इन्द्रियसंयम की क्या आवश्यकता है? इस विषय को स्पष्ट करते हुए भगवान बताते हैं कि आसक्ति का नाश न करके केवल विषयों से इन्द्रियों को पृथक रखने पर संयम के अभाव में मन और बुद्धि पर विजय पाना असंभव है, अतः सर्वप्रथम तो इन्द्रियों पर ही विजय प्राप्त करनी आवश्यक है।

भगवान् कहते हैं—हे कौन्तेय ! चाहे पुरुष कितना भी विवेकी क्यों न हो, ये इन्द्रियाँ जन्म जन्मान्तरों से विषयों को भोगते-भोगते इतनी अभ्यस्त हो गयी हैं, इतनी प्रमथन स्वभाव-वाली बन गयी हैं, कि बारम्बार प्रयत्न करते रहने पर भी विवेक द्वारा बुद्धि को सर्वथा यह समझाते रहने पर भी कि ये विषय क्षणभंगुर हैं, दोष युक्त हैं, नाशवान् है, फिर भी तनिक सा भी अवसर आने पर-यत्किंचित् भी असावधान होने पर ये इन्द्रियाँ बलात्कार से मन को विकृत बना देती हैं, इस-लिये सर्वप्रथम तो इन प्रमथनशील इन्द्रियों को ही: वश में करना चाहिये। पहिले मूल पर ही कुठारा घात करना चाहिये। इन्द्रियों को कभी स्वाधीन न छोड़े। स्थितप्रज्ञता में इन्द्रियों का संयम मुख्य कारण है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! भगवान् इन्द्रिय संयम पर बल देते हुए असंयतेन्द्रिय का पतन कैसे होता है इस क्रम को भी प्रसंग प्राप्त होने पर आगे बतावेगे।

छप्पय

नहिँ जावै आसक्ति विषय भोगनितैं जब तक।
होवै नहीं विरक्त भोग इन्द्रिनितैं तब तक।।
इन्द्रिय हैं अति दुष्ट इन्हें चाहें समुझाओ।
आवें विषय समीप रोकि फिरि तुम नहिँ पाओ।
मिलहिँ विषय इन्द्रिय उभय, करो चाहिँ जितनो जतन।
बुद्धिमान जनको फँसै, रोकत रोकत दुष्ट मन।।

स्थितप्रज्ञ के लक्षण (४)

[३१]

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥*
(श्री० भग० गी० २ अ० ६१, ६२ श्लोक)

छप्पय

वश इन्द्रिनि कूँ करै वही साधक कहलावै ।
सब विषयनितैं खींचि मोइ में चित्त लगावै ॥
ध्यान धारणा करै एक आसनतैं थिर ह्वै ।
सच्चे सयम करै गिरै नहिँ इन्द्रिय वश ह्वै ॥
इन्द्रिय जाके स्ववश हैं, इत-उत नहीं चलावते ।
जो इनि कूँ वश में करें, ते थिरधी कहलावते ॥

---

* ऐसी प्रमथनशील इन्द्रियों को वश में करके मेरे परायण होकर रहना चाहिये, कारण कि जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं, उसी की बुद्धि स्थिर कही जाती है ॥६१॥

विषयों का ध्यान करने वाले पुरुष को उन विषयों में आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। आसक्ति से कामना होती है और कामना की पूर्ति न होने पर क्रोध उत्पन्न होता है ॥६२॥

रथ के घोड़े यद्यपि सारथी के संकेत से चलते हैं, किन्तु जब वे सुशिक्षित हों तब। सुशिक्षित घोड़े ही सुमार्ग पर चलेंगे। यदि घोड़े सुशिक्षित नहीं हैं इच्छानुसार चलने वाले हैं, तो उनकी लगाम को सारथी कितना भी खीचे, वे कुमार्ग की ही ओर दौड़ेंगे। इससे वे स्वयं ही संकट में न पड़ेंगे, रथी सारथी सभी को डुबो देंगे। इसलिये सर्वप्रथम सारथी को घोड़ों पर ध्यान देना चाहिये, उन्हें सुशिक्षित बनाना चाहिये। घोड़े सारथी के अधीन हों, उसके संकेत पर ही चलने वाले हों, तो रथी सारथी सभी की रक्षा होगी और रथी सुखकर मार्ग से अपने गन्तव्य स्थान को पहुँच सकेगा। यह देह ही रथ है, इन्द्रियाँ उस रथ के घोड़े हैं। मन घोड़ों की बागडोर है बुद्धि सारथी है और यह जीवात्मा ही रथी है, इसका गन्तव्य स्थान क्या है, मोक्ष-भगवत् प्राप्ति। सुकर मार्ग क्या है, ज्ञान मार्ग अथवा निष्काम कर्म योग-उपासना या भक्ति मार्ग अतः इन पथों के पथिकों का सर्वप्रथम कर्तव्य यही है, कि इन्द्रियों को विषयों की ओर स्वच्छन्द गति से जाने से रोकें। उन्हें संयम की शिक्षा दें। उन्हें संयत-स्ववश में रखने का सतत प्रबल प्रयत्न करता रहे।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! यह शरीर प्रारब्ध से बनता है, प्रारब्ध से ही भोगों की प्राप्ति होती है, साथ ही भगवान् ने सद् असद् विवेकिनी बुद्धि भी दी है, आरंभ में बुद्धि कच्ची होती है, निरन्तर के अभ्यास से तथा विषयों के प्रति वैराग्य दृष्टि रखने से बुद्धि प्रतिष्ठित हो जाती है, स्थिरता को प्राप्त हो जाती है, ऐसी ही प्रतिष्ठित बुद्धि हमें अपने यथार्थ गन्तव्य स्थान की ओर ले जाने में समर्थ हो जाती है। जैसे रथ को घोड़े ही खींचते हैं, वैसे ही इस देह रूपी रथ का निर्वाह इन्द्रियों के ही द्वारा होता है। घोड़ों को जैसा आहार दोगे वैसा ही उनमें बल आवेगा।

यदि उन्हें आपने आवश्यकता से अधिक दाना चारा दे दिया, तो भी वे बलवान् न बनेंगे। उन्हें अनेक रोग हो जायँगे। इसी प्रकार इन्हें आवश्यकता से न्यून दाना चारा दोगे, तो वे निर्बल हो जायँगे, रथ को वहन करने में असमर्थ हो जायंगे। इसलिये सर्व प्रथम तो आवश्यकता इस बात की है, कि उनका आहार विहार नियमित होना चाहिये। जिसको जितने आहार की आवश्यकता हो, उससे न अधिक दिया जाय, न कम। बहुत अधिक पौष्टिक भी न हो और कम पौष्टिक भी न हो, उनका संतुलित आहार हो। आहार-विहार का संतुलन रखने के साथ ही वे मनमानी ओर जाने वाले न हों। उन्हें संकेत के अनुसार चलने का अभ्यास कराना चाहिये। उन्हें स्ववश में रखना चाहिये। इसी बात को भगवान् अर्जुन को बता रहे हैं।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी अपने भक्त अर्जुन से कह रहे हैं—"अर्जुन! ये इन्द्रियाँ प्रमथनशील है, मनुष्य को मथ डालती हैं, इन्हें कुमार्ग की ओर जाते हुए रोकने का एक मात्र उपाय यह है, कि पहिले तो चाबुक मार-मार कर इन्हें अपने वश में करे। इनके मुख में संयम रूपी लगाम लगा दे जिससे इधर-उधर भटके नहीं। उस लगाम को सावधानी से कड़ी किये रहे। ढीली न छोड़ दे। अर्थात् चित्त को समाहित रखे मन को दृढ़ता से वश में किये रहे, और एक बात ध्यान में रखे। एक शत्रु हैं अहंकार उसके परायण न होकर मत्परायण हो जाय। क्योंकि मैं तो प्राणीमात्र का सुहृद हूँ, और सुहृद कभी अपने मित्र को कुपथ पर जाने नहीं देता। अतः मेरा अनन्यभक्त होकर बिना इधर-उधर चित्त को घुमाये स्थिर भाव से स्थित होवे। इससे होगा क्या? सभी इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं। बस, यही तो मुख्य साधन है, जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं, जिसकी इन्द्रियाँ संयमित

हैं उसी की बुद्धि प्रतिष्ठित है। वही स्थितप्रज्ञ पुरुष है।

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी! जिसने इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया, जो जितेन्द्रिय हो गया, फिर उसे भगवान् (मत्परायण) मेरे परायण होने को क्यों कहते हैं।"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज! संसार में मित्र सभी चाहते हैं। मनोनुकूल मित्र न मिल सके यह दूसरी बात है, सब की इच्छा मित्र प्राप्त करने की होती है, जीव मैत्री बंधन में ही तो बँधा हुआ है। भगवान् भी मित्र चाहते हैं, उन्हें भी मित्र बनाने की अभिलाषा है, इसलिये अपने स्वार्थवश भगवान् कहते हैं—"तू मेरा अनन्य मित्र बनकर कार्य कर। भगवान् को भी मित्र की आवश्यकता है। एक भी आज्ञाकारी मनोनुकूल अपने मन में मन मिलाने वाला मनोहर मित्र मिल जाय, तो जीवन सुखमय हो जाय। मित्र के ऊपर सब भार छोड़कर निर्भय तथा निश्चिन्त हो जाता है। गाँव में एक चौकीदार होता है, किन्तु वह अकेला ही घोर अँधेरी रात्रि में पहरा देता रहता है, क्योंकि उसे विश्वास है मेरे पीछे पूरा शासन है। मुझे बलवान् का आश्रय है। इसी प्रकार भगवान् अपने को सबसे अधिक बलवान् बताते है और अपने आश्रय में आने को कहते है। तू मेरा मित्र बन जा, मुझे अपना मित्र बना ले। चिन्ता भय सब को मेरे ऊपर छोड़ दे। मत इन्द्रियों के अधीन हो, न मन के और न बुद्धि के हो। सूक्ष्म से, सूक्ष्म बहुत ही पतली की हुई, मेरी ओर बढ़ने वाली बुद्धि के सहारे से प्रतिष्ठित बुद्धि के द्वारा मेरे समीप आ जा। क्योंकि ये मन सहित इन्द्रियाँ चोर हैं, तुझे दिन दहाड़े चौराहे पर लूट लेंगे। इसी बात को बताते हुए भगवान् कह रहे हैं।

भगवान् ने कहा—"अर्जुन देखो, हमें संसार में शब्दवान्,

रूपवान्, रसवान्, गंधवान्, और स्पर्शवान् संसारी पदार्थ सम्मुख प्रत्यक्ष दीख रहे हैं। इन्द्रियों का सीधा सम्बन्ध तन्मात्राओं से-विषयों से-है। पुरुष पहिले पहिल देखी हुई, सुनी हुई, अनुभव की हुई वस्तुओं का उनके विषयों का ध्यान करता है चिन्तन मनन करता है। इन्द्रियों के अनुकूल विषयों का ध्यान करते-करते उनमें आसक्ति हो जाती है। जिस वस्तु में आसक्ति हो जाती है, उसे प्राप्त करने की अभिलाषा होना स्वाभाविक है, क्योंकि आसक्त हुआ पुरुष ही अपनी कामनानुसार वस्तु के लिये प्रयत्नशील होता है। जिस वस्तु को हम चाहते हैं, वह हमें किसी कारण वश प्राप्त नहीं होती और अहंकार वश हम उसे प्राप्त करने में अपने को समर्थ पाते हैं, तो प्राप्तव्य वस्तु की न प्राप्ति में जो विघ्न डालता है, उसके प्रति क्रोध उत्पन्न होता है। यदि अहंकार के वशीभूत न होकर हम अपने को असमर्थ समझलें तो फिर क्रोध न होकर असमर्थता के भाव आते हैं, किन्तु जब अहंकार में भरकर मनुष्य कहता है—'वह कौन होता है, जो मेरी कामना में विघ्न डालता है, उसे मैं पाठ पढ़ा दूँगा, तब वाणी द्वारा शरीर द्वारा वह क्रोध के भाव प्रकट करता है। गाली देता है, लड़ने को उद्यत हो जाता है।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! ये क्रोध, काम का पुत्र है, बिना कामना के क्रोध होगा ही नहीं। जहाँ आपको क्रोध दिखायी दे, वहाँ समझिये कोई न कोई अहंकार मिश्रित कामना अवश्य है। क्रोध आने पर आकृति बदल जाती है, भौंहें चढ़ जाती हैं, आँखें लाल हो जाती हैं, शरीर काँपने लगता है, इन्द्रियाँ अपने वश में नहीं रहती। इस प्रकार विषयों की आसक्ति से पतन का क्रम आरंभ हो जाता है। विषयों के चिंतन से आसक्ति, आसक्ति से

कामना और कामना से ही क्रोध होता है। क्रोध के अनंतर क्या होता है, इसे भगवान् आगे बतावेंगे।

छप्पय

प्रथम विषय को ध्यान होहि मन रँग-रँगि जावै।
इन्द्रिय चाहें विषय यादि ताही की आवै॥
चिंतन करिबे लगो फेरि आसक्ति बढ़ति है।
बढ़त-बढ़त आसक्ति कामनारूप धरति है॥
होहि कामना प्रबल जब, तब कछु नहीं सुहातु है।
विघ्न कामना में परै, तुरत क्रोध ह्वै जातु है॥

स्थितप्रज्ञ के लक्षण (५)

[३२]

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥*

(श्री भग० गी० २ अ० ६३, ६४ श्लो०)

छप्पय

मन में आयो क्रोध हिताहित कछु नहिँ सूझै।
कैसो बोलें बोल बुद्धितैं फिरि नहिँ बूझै॥
क्रोध बढ़यो संमोह रूप फिरि तानें धार्यो।
भ्रम इस्मृति में होय चाहि जो सो करि डार्यो॥
इस्मृति भ्रम जब ह्वै गयो, बुद्धिहीन बनि जात है।
बुद्धिनाश के होत ही, तुरत फेरि नशि जात है॥

---

* क्रोध से संमोह होता है, समोह से स्मरण शक्ति भ्रमित हो जाती है, स्मृतिभ्रंस होने से बुद्धि का नाश हो जाता है। बुद्धि के नाश से सर्वनाश हो जाता है ॥६३॥

रागद्वेष से रहित स्वाधीन अन्तःकरण वाला पुरुष अपने वश में की हुई इन्द्रियों के द्वारा इन बाह्य विषयों को भोगता हुआ भी, अखण्ड प्रसन्नता को प्राप्त करता है ॥६४॥

अनर्थ का कारण मन ही है। इन्द्रियाँ सब मन के अधीन हैं। मानसिक संकल्प न हो तो इन्द्रियाँ काम ही न करेंगी। यदि मन असत् संकल्पों से भरा रहेगा, तो वह असत् बातों का ही मनन करेगा। उसमें सद्‌भावों का उदय ही न होगा। सदा चिन्ता, व्यग्रता तथा अशांति बनी रहेगी। यदि मन में शुभ संकल्प उठते है, सत् भावनायें हिलोर मारती रहें तो मन सत् बातों का ही मनन करता रहेगा। वह प्रत्येक कार्य में निश्चिन्त रहेगा, वह कभी व्यग्र न होगा सदा अव्यग्र भाव से सत् कार्यों में संलग्न रहेगा। उसे दृढ़ विश्वास रहेगा, कि प्रारब्ध कर्मानुसार जो वस्तु आने वाली होगी, वह मेरे पास अवश्य आ जायगी, जो न आने वाली होगी लाख प्रयत्न करने पर भी न आवेगी। इसलिये न आने वाली वस्तु के लिये वह सोच नहीं करता और अकस्मात् प्राप्त होने वाली वस्तु को देखकर विस्मयान्वित नहीं होता। वह संसारी संहातों को अव्यग्र भाव से सहता है मन में से असत् भावनायें निकल गयी है, वह निर्मल स्वच्छ बन गया है, इसकी सबसे बड़ी पहिचान यही है कि अन्तःकरण विषय चिन्ता की व्याकुलता से रहित हो जाता है। जिसका मन स्वच्छ हो जाता है, उसके मुख पर सदा सर्वदा मुस्कराहट बनी रहती है। वह बच्चों की तरह से निष्कपट भाव से स्वच्छ हँसी हँसता है। निर्मल अट्टहास करता रहता है। मुख तो अन्तःकरण के भावों का दर्पण है। तुम्हारे अन्तःकरण में जैसे भाव बने रहेंगे, उनकी वैसे ही प्रतिच्छाया आपके मुख मंडल पर अभिव्यक्त होती रहेगी। अतः हत्या की जड़ ये राग द्वेष ही हैं। रागद्वेष से रहित मन ही प्रसन्नता को प्राप्त कर सकता है।

सूत जी कहते है—"मुनियो! भगवान् ने विषयों के संग से काम और काम से क्रोध की उत्पत्ति बतायी है। अब क्रोध से

क्या होता है, इसे बताते हैं। इस बात का स्मरण रखना चाहिये कि जिधर की भूमि ढालू होती है, उधर पानी बहता ही जाता है। एकबार जहाँ पतन हुआ तो फिर पतन की ओर ही व्यक्ति बढ़ता जाता है, इसी प्रकार एकबार उन्नति की ओर बढ़ने लगे और उसमें उसे रस आने लगे, तो वह बढ़ता ही जाता है। जैसे जिसके वस्त्र स्वच्छ धुले धुलाये हों वह मैले स्थान में बैठने से संकोच करता है, किन्तु जिसके पहिले ही वस्त्र मैले हो चुके हैं, वह मैल कुचैल जैसा भी स्थान पाता है, वहीं बैठ जाता है वह और भी मैला हो जाता है, उसका मैल उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है, किन्तु उसे स्वयं प्रतीत होता नहीं। यही तो भगवान् की माया है। हाँ तो क्रोध होने तक का क्रम तो भगवान् ने बताया। अब इसके पश्चात् जो होता है, उसे बताते हुए भगवान् कहते हैं –"अर्जुन! क्रोध आजाने के पश्चात् संमोह होता है। संमोह उसे कहते हैं जब यह विवेक न रहे कि यह कार्य करने योग्य है या न करने योग्य। क्योंकि क्रोध हमेशा अहंकार से होता है, जब मनुष्य समझता है, कि अमुक-आचरण मेरी कामना के विरुद्ध हो रहा है और मै चाहूँ तो क्रोध करके इसे हटा भी सकता हूँ। उस समय अपनी सामर्थ्य का भान नहीं रहता। क्रोध में भर कर व्यक्ति बड़े से बड़ा अनर्थ कर डालता है। क्योंकि उसे कार्य अकार्य का, सत् असत् का शुभ अशुभ का, कल्याण अकल्याण का भान ही नहीं रह जाता। क्रोध में विक्षिप्त बन जाता है। इसी से संमोहित हो जाता है। मोह उसके अन्तःकरण को आच्छादित कर लेता है, दबा लेता है।"

आत्मा तो नित्य शुद्ध मुक्त है। किन्तु इसे अपने स्वरूप की विस्मृति हो गयी है। विस्मृति क्यों हो गयी है, मोह के कारण। मोह क्यों हुआ क्रोध से, क्रोध क्यों हुआ काम से, काम क्यों हुआ सङ्ग-आसक्ति से। आसक्ति क्यों हुई विषयों के चिंतन से। तो

स्मृति भ्रंश या विस्मृति का मूल कारण है विषयासक्ति। क्रोध में भर कर प्राणी अपनी रही सही स्मृति को भी खो बैठता है। उस स्मृति विभ्रम का परिणाम यह होता है, कि बुद्धि में जो थोड़ी बहुत सत् असत् विवेचन की शक्ति थी उसका भी नाश हो जाता है। स्मृति विभ्रम से बुद्धि का सर्वथा विनाश हो जाता है, बुद्धि नाश हो गया तो मानो उस पुरुष का सर्वनाश हो गया।

इसलिये वाह्य इन्द्रियों का निग्रह भी करलो किन्तु जब तक मन निर्विषय न होगा, मन से विषयों का स्वाद-रसासक्ति-न जायगी तब तक काम न चलेगा। अतः इन्द्रिय संयम पूर्वक मन को राग द्वेष से रहित करो। संसारासक्त मन का स्वभाव है उसका किसी वस्तु में राग हो जाता है, किसी से द्वेष हो जाता है। किन्तु जिसने अपने मन को विशुद्ध बना लिया है। जिसने देह के मल को मन के राग द्वेष जनित विक्षेप को और बुद्धि के अज्ञान रूप आवरण को हटा लिया है। ऐसे पुरुष की इन्द्रियाँ अपने वश में हो जाती हैं, वह जितेन्द्रिय हो जाता है, उसकी इच्छा के बिना इन्द्रियाँ असत् मार्ग मे प्रवृत्त नहीं होती और उसका मन उसके वश में हो जाता है। ऐसा व्यक्ति रागद्वेष विहीन इन्द्रियों से अनिषिद्ध विषयों को ग्रहण करता हुआ भी मनः प्रसाद को प्राप्त कर लेता है।

इस पर शौनक जी ने पूछा—सूतजी! आप पहिले तो बता आये हैं, कि विषयों के ध्यान मात्र से ही उनमें संग अथवा आसक्ति हो जाती है और आसक्ति ही अनर्थ का हेतु है। अब आप बताते है रागद्वेष से विहीन इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करते हुए भी वह मन की प्रसन्नता प्राप्त कर लेता है। तो जब विषयों के चिन्तन मात्र से ही अनर्थ की सम्भावना है, तो इन्द्रियों द्वारा भोग से तो

निश्चय ही पतन होगा। फिर भगवान् ने "विषयानिन्द्रियै चरन्" विषयों को इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करता हुआ" ऐसा क्यों कहा ?

इस पर सूतजी बोले—"महाराज ! केवल विषयों को इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करता हुआ मन की प्रसन्नता प्राप्त कर लेता है, इतना ही नहीं कहा। इसमें दो विशेषण भी हैं रागद्वेष विमुक्त आत्मवशी विधेयात्मा भी है। जिसके मन में रागद्वेष भरा है और जिसने चित्त को वश में नहीं किया है उसका तो विषयों के चिन्तन मात्र से ही पतन होगा, भोग की बात तो पृथक् है किन्तु इन्द्रिय निग्रह पूर्वक आत्मवशी पुरुष अनिषिद्ध विषयों का उपभोग करने पर पतित न होगा, किन्तु मन की प्रसन्नता को ही प्राप्त करेगा। जैसे संखिया है, आप उसे कच्चा खाओ, तो निश्चय ही मृत्यु को प्राप्त हो जाओगे, किन्तु उसी संखिया को आयुर्वेद शास्त्रानुसार शोधन करके उसका सेवन करो, तो अनेक रोगों से मुक्त होकर तुम नीरोग बन जाओगे। कच्चा संखिया विष है, वही युक्ति से संशोधित होकर अमृत तुल्य बन जाता है। इसी प्रकार यात्रा तो विषयों के बिना चलेगी नहीं। उसके लिये अन्न जल, कन्दमूल फल आदि का सेवन करना ही है, किन्तु विषयासक्त मन द्वारा इनका सेवन करोगे तो इनके रस में स्पृहा होगी, वह जन्ममरण का कारण होगा। यदि इन्द्रियजित और मनोनिग्रह पूर्वक विधेयात्मा-वशी-बनकर अनिषिद्ध विषयों का ग्रहण करोगे तो जीवन्मुक्त हो जाओगे मन की प्रसन्नता को प्राप्त कर लोगे। अब प्रसाद प्राप्त होने पर क्या होता है—इस बात को भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी अपने परमभक्त अर्जुन को बतायेंगे, इसका वर्णन भगवान् आगे करेंगे।

छप्पय

वश जिनि इन्द्रिय करीं विषय फिर दुःख न देवैं।
अन्तःकरन अधीन भयो च्यौं विषयनि सेवैं॥
साधक सुखतें रहे नित्य व्योहार चलावे।
भोगे इन्द्रिय विषय चित्त आसक्ति न आवे॥
राग, द्वेष तें रहित है, सहजभाव विचरन करे।
नहीं दुखित कबहूँ बने, मन में मोद महा भरे॥

अशान्त को सुख नहीं

[३३]

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥*

(श्रीभग० गी० २ अ० ६५, ६६ श्लोक)

छप्पय

अन्तःकरन प्रसन्न मोद मन में जब आयो।
हिय में उठति हिलोर दुःख को नाम न पायो॥
सब दुख को है मूल विषय को चिंतन करिबो।
रूप, शब्द, रस, परस रागवश हिय में भरिबो॥
मन प्रसन्न जब ह्वै गयो, बुधि हटै सब ओर तैं।
भयो लीन मुनि ब्रह्म में, कृष्ण कृपा की कोर तैं॥

---

* अखण्ड प्रसन्नता होने पर इस पुरुष के समस्त दुःखों का नाश हो जाता है, जिसका चित्त प्रसन्न रहता है, उसकी बुद्धि शीघ्र ही स्थिरता को प्राप्त हो जाती है ॥६५॥

जो पुरुष योगयुक्त नहीं है, उसकी सद्बुद्धि नहीं होती और अयुक्त पुरुष के सद्भावना भी नहीं होती, सद्भावना के बिना शान्ति नहीं और जो अशान्त है, उसे सुख कहाँ ॥६६॥

साधक दो प्रकार के होते हैं एक कृतोपासक दूसरे अकृतोपासक। ज्ञान तो विवेक और विचार से होता है। कृतोपासक उसे कहते हैं, जो उपासना करते-करते, मन्त्र जप, तप, यज्ञ, अनुष्ठान, योगादि साधनों द्वारा चिरकाल की उपासना से जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, उस अन्तःकरण में विमल बुद्धि द्वारा जो दृढ़ धारणा होगी और उस धारणा से ध्यान और समाधि द्वारा असंप्रज्ञात समाधि द्वारा तत्व ज्ञान हो, उससे सिद्धि प्राप्त हो जाय। यह तो कृतोपासक का लक्षण हुआ। अकृतोपासक ज्ञान को ही मुख्य समझता है, वह उपासना आदि को निम्नस्तर की वस्तु मानता है, वह केवल विचार विवेक द्वारा ही सिद्धि प्राप्तकर लेना चाहता है। ऐसे अकृतोपासक ज्ञानी को ज्ञान चाहें भले ही हो जाय, किन्तु उपासना, श्रद्धाभक्ति के अभाव में उसका वह शुष्क ज्ञान टिकाऊ नहीं हो सकता। ऐसे अनुपासक विमुक्तमानी पुरुषों का प्रायः पतन ही हो जाता है, क्योंकि उन्होंने भगवान् के चरणारविन्दो का आदर नहीं किया उन्होंने उपासना मार्ग को हेय समझकर उसे अपनाया नहीं। ऐसे लोग जब तक विषयों से दूर रहते हैं, तब तक तो ठीक रहते हैं, जहाँ उन्हें संयोगवश, विषयी पुरुषों का संग मिल गया, वहाँ वे योगारूढ होने पर भी पतित हो जाते हैं, क्योंकि इन्द्रियों का स्वभाव ही है, विषयों की ओर आकृष्ट हो जाना। जैसे राजकर्मचारी साधारण, अधम, मध्यम, उत्तम और सर्वोत्तम होते हैं, जो अपने काम को साधारण अधिकारी के द्वारा कराता-कराता सर्वोत्तम अधिकारी के पास जाकर कार्य को पूर्ण करा लेता है, उसका कार्य तो सविधि सम्पन्न हो जाता है, किन्तु जो साधारण, अधम, मध्यम तथा उत्तम अधिकारियों की अवहेलना करके सर्वोत्तम अधिकारी के पास पहुँच जाता है, नीचे के अधिकारियों को तुच्छ समझता है, तो वे अवसर पाने

पर उसके काम में रोड़े अटका देते हैं। क्रम-क्रम से एक सीढ़ी के अनन्तर दूसरी सीढ़ी पर चढ़ने से हानि की सम्भावना नहीं होती।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! भगवान् ने जब यह कहा कि राग-द्वेष से विहीन इन्द्रियों द्वारा जो अनिषिद्ध विषयों का सेवन करता है, उसे प्रसाद की प्राप्ति होती है अब प्रश्न यह उठता है प्रसाद प्राप्त होने पर क्या होता है इसी का उत्तर देते हुए भगवान् कह रहे हैं।

भगवान् ने कहा—"प्रसाद प्राप्त होने पर समस्त दु:खों का नाश हो जाता है। जीव को दुःख अशान्ति तभी होती है जब वह अपने को कर्ता मानकर अहंकार के अधीन होकर आसक्ति पूर्वक कर्मों में प्रवृत्त होता है। तब अनुकूल प्रवृत्ति के प्रति राग होता है, प्रतिकूल प्रवृत्ति के प्रति द्वेष होता है। कार्य अपनी इच्छानुकूल हो गया तो हर्ष हुआ, प्रतिकूल हुआ तो विषाद हुआ। इसलिये हर्ष विषाद, राग द्वेष, अनुकूल प्रतिकूल ये सभी द्वन्द्व दुःख के अशान्ति के कारण हैं। इसलिये कर्मों को कर्तव्य समझकर—मेरी सेवा समझकर—अनासक्त भाव से करना चाहिये और करके भी उसे मेरे अर्पण कर देना चाहिये। हानि लाभ, अनुकूल प्रतिकूल की चिन्ता स्वयं न करके मुझे सौंप दे। यह विश्वास रखे, कि मैं जीवमात्र का सच्चा सुहृद् हूँ। एक सुहृद् अपने दूसरे सुहृद् का कभी अनिष्ट कर ही नहीं सकता। दुःख तो जीव को तभी तक प्राप्त होता है, जब तक उसे मेरे प्रसाद की मेरी कृपा, अनुग्रह, करुणा वत्सलता की प्राप्ति नहीं होती। जहाँ मेरा प्रसाद प्राप्त हो गया, वहाँ उसके समस्त दुःखों का—समस्त चिन्ताओं का—सभी प्रकार की अशान्तियों का अन्त हो जाता है। उसका चित्त मेरे प्रसाद से स्वच्छ निर्मल बन जाता है। जिस मननशील व्यक्ति की बुद्धि निर्मल बन गयी जिसका चित्त परम प्रमुदित बन गया, उस

प्रसन्नता प्राप्त पुरुष की बुद्धि मेरे में स्थिर हो जाती है। अर्थात् वह ब्रह्माकार वृत्ति वाला बन जाता है।"

देखो, इस विषय को फिर व्यतिरेक से फिर उलट कर समझ लो। जो अयुक्त पुरुष है, जिसने योग नहीं किया, कर्मों को कुशलता पूर्वक नहीं किया, अतःकरण सहित वाह्यकरणों—बाहर की इन्द्रियों को जीता नहीं, चित्त को समाहित नहीं किया, ऐसे पुरुष को निश्चयात्मिका—सद् असद् का विवेक करने वाली, वेदान्त विचार जनित विशुद्ध बुद्धि नहीं होती। बुद्धि न होने से उस अयुक्त पुरुष की विशुद्ध भावना नहीं होती। जिसे भावना नही उस मनुष्य को शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है। सद्भावना ही शान्ति का मूल कारण है। दुर्भावना से तो अशान्ति ही बढ़ती है, जिसे शान्ति नही वह अशान्त पुरुष है। जो अशान्त है उसे सुख कहाँ? सुख तो शान्ति का ही पुत्र है। दक्ष प्रजापति की शान्ति पुत्री से ही सुख पुत्र उत्पन्न हुआ है। इसलिये सुख चाहने वाले को शान्ति की आराधना करना चाहिये। शान्ति प्राप्त होती है विशुद्ध भावना से, विशुद्ध भावना होती है, योगयुक्त विशुद्ध बुद्धि से, विशुद्ध बुद्धि होती है समस्त दुःखों के नाश से और समस्त दु ख का नाश हो जाता है, मेरे प्रसाद से। इसलिये इन्द्रियों को वश में करके रागद्वेष से रहित होकर मेरे प्रसाद की प्राप्ति का प्रतिपल प्रबल प्रयत्न करना चाहिये। प्रभुप्रसाद के बिना यह समस्त संसार दुःखमय है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इस प्रकार भगवान् ने इन्द्रियों सहित मन चित्त को समाहित करने पर बल दिया। अब जिस पुरुष का चित्त समाहित नहीं हुआ है, ऐसे असमाहित चित्त वाले को बुद्धि क्यों नहीं होती इसका वर्णन भगवान् आगे करेंगे।

छप्पय

जानें मन अरु इन्द्रि योगतैं जीते नाहीं।
बुद्धि शुद्ध नहिँ तासु न निश्चय मन के माहीं॥
युक्त अयुक्त विवेक नाश जाको ह्वै जावै।
उठै न अन्तःकरन भावना हीन बनावै॥
होहि भावनाहीन नर, मिलै शान्ति ताकूँ नहीं।
शांति बिना सुख जगत में, नहीं सुन्यों देख्यो कहीं॥

मन इन्द्रिय निग्रह ही सिद्धि का मूल है

[३४]

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥*
(श्रीभा०गी० २ अ० ६७, ६८ श्लो०)

छप्पय

जैसे जल में नाव वायु के वश है जावै ।
लै जावै जित वायु नाव तित ही कूँ जावै ॥
तैसे ही यह बुद्धि असत-चित खल-पुरुषनि कूँ ।
है मन के आधीन भ्रमावै सब विषयनि कूँ ॥
इन्द्रिय विचरैं बिषय-बन, मन जामें फँसि जातु है ।
सो इंद्रिय व पुरुष की, बुद्धी तुरत नसातु है ॥

---

* जैसे जल मे पड़ी नौका को वायु हर लेती है, वैसे ही विचरती हुई इन्द्रियों के बीच में से जिस इन्द्रिय के साथ चंचल मन रहता है, वो वह इन्द्रिय इस पुरुष की बुद्धि को हर लेती है ॥६७॥

इसलिये हे महाबाहो अर्जुन ! जिस पुरुष की इन्द्रियाँ उनके विषयों से सब भाँति वश में की हुई होती हैं, उसी की बुद्धि स्थिर होती है ॥६८॥

जन्म जन्मान्तरों से हमारी इन्द्रियाँ विपयाभिगामिनी रही हैं। जो जिस वस्तु का निरन्तर सेवन करता है, उसे उस वस्तु का व्यसन हो जाता है। व्यसन हो जाने पर मन इतना दुर्बल बन जाता है, कि वह इन्द्रियों पर अपना नियन्त्रण करने में असमर्थ हो जाता है, मनको इन्द्रियों के अधीन हो जाना पड़ता है। मन वश में हो जाय तो इन्द्रियाँ तो उसकी अनुवर्तिनी हैं ही। विपय का प्रियत्व अप्रियत्व मनके ऊपर अवलंबित है। जिस विपय को इन्द्रियों के द्वारा मन ने प्रिय मान लिया, उस विपय की ओर इन्द्रियाँ बिना प्रयत्न के स्वत: चली जाती है। जिसने अपने मन को वश में कर लिया, उसका बाहरी विपयों में आकर्पण नहीं होता।

एक बड़े विरक्त परमहंस महात्मा थे, उन्होंने इन्द्रियों सहित मन को अपने अधीन कर रखा था, वे सदा परमहंस वृत्ति में रहते थे। कुछ लोग उन्हें बहुत ऊँचा महापुरुप मानते थे और कुछ लोग उन्हें पागल समझते थे। वे किसी की कुछ परवाह ही नहीं करते, अपने आप ही आत्म सुख में सदा प्रसन्नवदन रहते थे।

एकदिन वे परमहंस घूमते फिरते किसी वेश्या के यहाँ चले गये। वेश्या बड़ी नामी थी और धनी भी थी। वह महात्मा को पहिचानती थी, अपने घर के सम्मुख परमहंस को देखकर वह अत्यंत ही प्रसन्न हुई। बड़े आदर के साथ वह उन्हें अपने घर के भीतर ले गयी। महात्मा को उसने खूब मल-मल कर स्नान कराया, सुन्दर रेशमी वस्त्र पहिनाये, तेल, फुलेर, इत्र लगाया। सुन्दर स्वादिष्ट भोजन कराया। महात्मा ने किसी बात में भी आपत्ति न की। भोजन करा कर उसने महात्मा जी के लिये अत्यन्त ही मृदुल, सुखकर, स्वच्छ शैया बिछायी उस पर लेटने को महात्मा जी से कहा—महात्मा जी जाकर उस पर लेट रहे।

उस वेश्या ने कहा—"महाराज ! आज्ञा हो तो मैं भी इसी पर लेट जाऊं ?"

महात्मा ने कहा—"लेट जाओ, किन्तु जैसी यह शैया स्वच्छ है वैसा ही स्वच्छ मन को बनाकर लेटना। इन्द्रियों को मन के अधीन करके लेटना। मन को इन्द्रियों के अधीन मत होने देना।"

इसी का नाम धैर्य है। धैर्यवान् पुरुषों का मन विकार के हेतुओं के सम्मुख समुपस्थित हो जाने पर भी विकार प्राप्त नहीं होता। ऐसी स्थिति तभी प्राप्त हो सकती है जब मन के सहित सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय में निगृहीत हों। पूर्वकाल में बड़ी छोटी सभी नौकायें वायु द्वारा ही चला करती थीं। पाल लगा दिया, उसमें वायु भर गयी, और जिधर की वायु हुई, उसी ओर नौका वायु के सहारे बह जाती थी। जाना है, हमें पूर्व दिशा को। वायु उस दिशा के अनुकूल न होकर प्रतिकूल हो, तो जब तक अनुकूल वायु न हो जाय, नाविक लोग वहीं लंगर डालकर अनुकूल होने की प्रतीक्षा करते हुए बैठे रहते थे। नौका में मल्लाह न हो या असावधान हो, तो जल में खड़ी नौका में वायु भर जाती है. वह वायु नौका को जहाँ चाहते हैं लेजा सकती है, जल में डुबा सकती है। जल में पड़ी नौका हलकी होती है, वायु के तनिक से झोंके से डगमगा जाती है, हिल जाती है और वेग अधिक हो जाने से डूब जाती है। इसी प्रकार जल क्या है मन की चंचलता। वायु क्या है अस्वाधीन हुईं इन्द्रियाँ। वेग क्या है इन्द्रियों के अधीन हुआ मन। नौका क्या है बुद्धि। इसी प्रकार विषयों में प्रवृत्त हुई अस्वाधीन इन्द्रियों को लक्ष्य करके मन उनके साथ वेग से दौड़ता है, तो वह बुद्धि रूपी नौका को जल में डुबो देता है। सब इन्द्रियाँ भी नहीं एक ही इन्द्रिय के पीछे मन प्रवृत्त हो जाता है, तो भी बुद्धि रूपी नौका को हरण करने में उसे—डुबा

देने में–वह समर्थ हो जाता है। इसलिये मन सहित समस्त इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर उन्हें निगृहीत करना चाहिये। यही सिद्धि का मूलमंत्र है। इसी विषय को बताते हुए भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं।

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! भैया! तुम्हारे तो भुजा हैं। जो बिना बाहु का लूला आदमी होता है, वह वस्तु को निग्रह नहीं कर सकता। उन्हें पकड़ नहीं सकता। जिसकी भुजाएँ छोटी होती है, वे भी बड़ी वस्तुओं को अपने अधीन नहीं कर सकते। भैया रे! तुम्हारे तो बड़ी-बड़ी बाहुएँ हैं, तुम तो महाबाहु कहलाते हो, तुम्हारे लिये मन सहित इन्द्रियों को अपने नियन्त्रण में करना कोई कठिन कार्य नहीं है। देखो, जब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों की ओर उन्मुख होती हैं, उनका उपभोग करने दौड़ती है, तो निर्बल मन उन इन्द्रियों का अनुसरण करता है। ऐसा जो मन को वश में न करने वाला असंयतचित्त पुरुष है, उसकी बुद्धि को एकही विषयोन्मुखी इन्द्रिय उसी प्रकार डुबाने में समर्थ हो जाती है जैसे जलके भीतर पड़ी हुई नौका को वेगवती वायु का एक झोंका डुबाने में समर्थ होता है। इसलिये हे महाबाहो! तुम अपनी बुद्धि को प्रतिष्ठित करना चाहते हो, स्थितप्रज्ञ बनना चाहते हो, तो मन के सहित इन्द्रियों को उनके विषयों से निग्रहीत करो। इन्द्रियों को मन सहित अपने वश में करो। जिसने मन सहित इन्द्रियों को उनके विषयों से रोक लिया है, वही योगी है, वही कर्म करना जानता है, उसी की बुद्धि विशुद्ध है और वही स्थितप्रज्ञ है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इस प्रकार भगवान् ने इन्द्रिय निग्रह पर बल दिया, अब आगे बताते हैं, कि स्थितप्रज्ञ हो जाने पर उसका संयम कैसा होता है।

छप्पय

हत्या की जड़ जिही असंयत इन्द्रियगन हैं।
इन्द्रिय भोगैं विषय संग लै लेकें मन हैं॥
इन्द्रिनि करि आधीन विषयतें चित्त हटावे।
होहि बुद्धि च्यौं भ्रष्ट फेरि काहे दुख पावे॥
निग्रह जिनने करि लई, इन्द्रिय भागत विषय-बन।
-बुद्धि प्रतिष्ठित तासु की, यही बतावें विज्ञजन॥

काम कामी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता

[३५]

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥*

(श्री० भग० गी०, २ अ०, ६९, ७० श्लोक)

छप्पय

जो सबकूँ है निशा जगे ताई में जोगी।
सोवे तामें सतत जगें जामें सब भोगी॥
विषयनि में सुख समुझि जगें विषयी सब प्रानी।
ब्रह्मज्ञान कूँ राति जानि सोवै अभिमानी॥
परमानन्दस्वरूप प्रभु, ज्ञान-रात्रि साधक जगै।
सोवे पाँइ पसारि सुख, विषय-दिवस औरनि लगै॥

---

* समस्त प्राणियों की जो रात्रि है संयमी पुरुष उसमें जागता रहता है और जिस मे सब प्राणी जागते हैं, तत्वज्ञानी मुनि को वह सोने की रात्रि है ॥ ६९ ॥

जैसे सब ओर से परिपूर्ण, स्थिर प्रतिष्ठा वाले समुद्र में अनन्त नदियों का जल प्रवेश करता है, वैसे ही जिस पुरुष के शरीर में समस्त भोग बिना विकार के समा जाते हैं, वही पुरुष शान्ति प्राप्त करता है, कामों की कामना करने वालों को शान्ति नहीं ॥ ७० ॥

ये जो विषयों की कामना है वास्तव में यह कुछ है नहीं, केवल छायामात्र है। आप छाया को पकड़ने दौड़ो तो छाया तुमसे अधिक आगे भागेगी और कभी हाथ न आवेगी। किन्तु जब आप छाया की उपेक्षा करके उसे पीठ देकर भागोगे, तो वह आपके पीछे पीछे दौड़ेगी। वास्तव में न तो छाया आगे-आगे ही दौड़ती है और न पीछे-पीछे ही लगती है। छाया कोई वस्तु ही नहीं, आपके शरीर का प्रतिबिंब मात्र है, आपका शरीर भागेगा तो छाया भी भागती हुई सी दीखेगी, आप उलटे भागेंगे तो, वह पीछे-पीछे आती हुई-सी दिखायी देगी। इसी प्रकार संसारी विषय वासनाओं की स्थिति है। आप जितना ही अधिक विषयों का संग्रह करेंगे, कामना उतना ही अधिक बढ़ती जायगी। दुःख वस्तुओं में नहीं है, दुःख तो कामना, वासना अथवा स्पृहा में है। जब आप समस्त भोग्यपदार्थों के प्रति स्पृहा–कामना–को त्याग देंगे, तो प्रारब्ध के भोग तो आपके बचे ही रहेंगे। उनका अन्त तो बिना भोगे होने का नहीं। इच्छा न रहने पर भी वे भोग आपके पीछे-पीछे दौड़ेंगे। आप उन्हें निष्काम होकर—बिना स्पृहा के—प्रारब्ध भोग समझकर—निर्विकार बनकर भोगेंगे तो वे प्रारब्ध भोग तो समाप्त हो जायँगे, किन्तु आगे वे वासना बीज न बना सकेंगे। उन कर्मों में अंकुरित होने की सामर्थ्य नहीं रह जाती। जैसे धान के ऊपर की भूसी को उतार दो, तो वे चावल पेट तो भर सकते हैं, अंकुर उत्पन्न नहीं कर सकते। उनका पुनर्जन्म नहीं हो सकता।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! संसारी जीवों में और संयमी जीवों में, बद्ध जीवों में और मुक्त जीवों में, संयमी जीवों में तथा असंयमी जीवों में प्रकाश अन्धकार के समान आकाश पाताल के समान बहुत अन्तर होता है दोनों की विपरीत गति है। इसी

विपरीत भेद का वर्णन करते हुए भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं।

भगवान् ने कहा—अर्जुन! मननशील संयमी और अमननशील असंयमी के व्यवहार में दर्शन में बड़ा भारी अन्तर है। संसारी लोग जिसे दिन समझते हैं, संयमी उसे रात्रि मानता है, संसारी लोग जिसे रात्रि मानकर रात्रि के कार्यों को करते हैं, सोते हैं, संयमी उसमें दिनके कार्य करके जागता रहता है। संसारी लोग जिन कामों में अपने को चतुर समझते हैं, संयमी उनसे उदासीन बना रहता है, संसारी लोग जिस विषय में उदासीन बने रहते हैं, आत्मसंयमी उसी को कर्तव्य समझकर जाग्रत भाव से करता रहता है। संसारी लोग जिन्हें पाने के लिये समुत्सुक बने रहते हैं, संयमी उनकी ओर से आँखें बन्द कर लेता है और असंयमी जिस विषय की चर्चा भी नहीं करते संयमी उसी के श्रवण मनन तथा निदिध्यासन में निमग्न रहता है। समस्त प्राणियों के लिये जो रात्रि है, उसमें संयमी सोता नहीं—जागता रहता है। रात्रि में सब प्राणी तो तमोऽभिभूत होकर सुख से सोते हैं, किन्तु संयमी शांत एकान्त निस्तब्ध समझकर उस समय ध्यान करता है। जागता रहता है, तमके अधीन नहीं होता। अज्ञान अन्धकार से अपने को बचाये रखता है, ज्ञान के प्रकाश में सर्वदा जागरूक रहता है। अर्थात् संसारी लोग रात्रि में सोते हैं विषय चिन्तन करते हैं। संयमी उस समय जागता हुआ आत्मचिन्तन करता है। ज्ञान के प्रकाश में स्वस्वरूप का अनुसंधान करता है। समस्त प्राणी जिसे दिन कहते है, जिसमें जागकर विषयों को जुटाने का कार्य करते हैं। ज्ञानी उसे रात्रि—अन्धकार—मानता है। उस समय वह तान दुपट्टा सोता रहता है। अर्थात् न तो विषय भोगों को जुटाने के लिये कर्म करता है और न उनके लिये प्रयत्नवान् ही होता है। संसारी लोग स्त्री और पुरुष दो—मिथुन—

होकर मैथुन करते हैं ब्रह्मज्ञानी इसके विपरीत अपनी आत्मा से आत्मा में ही सुखानुभूति का अनुभव करता हुआ आत्ममिथुन होता है। संसारी लोग रमणियों में आनन्दानुभूति करते हैं, संयमी आत्मा में ही आनन्द लेते हुए अपने को आत्मानन्दी मानता है। संसारी लोग विषयों में ही प्रकाश की अनुभूति करते हैं, ज्ञानी आत्मा की ज्योति में ही सदा संतुष्ट लीन होकर स्व-प्रकाश से प्रकाशित होता हुआ आत्मज्योति कहलाता है। संसारी लोग विषयों में रति करते हैं, ज्ञानी आत्मा में ही रति करता है। संसारी लोग विषयों में क्रीड़ा करते हैं, यह ज्ञानी अपने आप में ही क्रीड़ा करता हुआ प्रमुदित होता है। इस प्रकार संसारी प्राणियों में और आत्मज्ञानी संयमी स्थितप्रज्ञ पुरुष में परस्पर बहुत अन्तर है। ज्ञानी रात्रि को—तमरूपी अन्धकार को—प्रकाश में परिणित कर देता है अज्ञानी उसमें सोता रहता है। संसारी लोग प्रकाश समझकर—दिन मानकर— जिसमें जागते हैं, संसारी विषयों की कामना स्पृहा करते हैं, संयमी उनकी ओर से आँख मीचकर उसे रात्रि मानता है रात्रि मानता हुआ भी वह मनन-शील उसमें स्वप्न नहीं देखता मनन करता रहता है।

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! संयमी ब्रह्मज्ञानी स्थित पुरुष—शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गंध आदि विषयों का मीठा, खट्टा, कड़ुवा, चरपरा, नमकीन आदि रसों को इन्द्रियों द्वारा उपभोग करता है या नहीं ?"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! न करता तो यह शरीर रहता ही कैसे ?"

शौनक जी ने पूछा—जब, अज्ञानी काम-कामी संसारी लोग भी विषयों का उपभोग करते हैं और स्थितप्रज्ञ ज्ञानी भी उनका उपभोग करते हैं तो दोनों में अन्तर क्या हुआ।

सूत जी ने कहा—महाराज, विषय एक से और उपभोग भी एक समान होते हुए भावनानुसार फल का अन्तर हुआ।

शौनक जी ने पूछा—फल में क्या अन्तर है ?

सूतजी ने कहा—ज्ञानी को निस्पृह निष्काम निर्वासना होने से शान्ति प्राप्त होती है और उन्हीं विषयों के उपभोग से संसारी अज्ञानी पुरुषों की अशान्ति बढ़ती है। दृष्टान्त के लिये समुद्र और नदियों को ले लीजिये। जल तो एक ही है। नदियों को वह जल क्षुब्ध कर देता है। समुद्र को वही जल शान्त बना देता है। वर्षाऋतु में बाढ़ के कारण नदियाँ कितनी भर जाती हैं। अपनी मर्यादा को उल्लङ्घन करके अमर्यादित बहने लगती है, तटों को तोड़कर दूर चली जाती हैं। भयंकर और भयावह बन जाती हैं। छोटे-छोटे नाले भी उमड़-घुमडकर उसकी अशान्ति को बढ़ाने में कारण बन जाते है। ऊपर से वर्षात् का पानी गिरता है, नीचे से क्षुद्र नाले बढ़कर उसके पानी को बढ़ा देते है इससे नदियाँ उन्मत्त हो जाती हैं, अपनी गम्भीरता मर्यादा को मेंट देती हैं जल के कारण। वही जल समुद्र में भी बरसता है, वर्षा के समस्त जल को समुद्र बिना किसी प्रकार की आपत्ति के अपने में आत्मसात करता है। वर्षा के अतिरिक्त गंगा, यमुना, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा, कावेरो, सरयू आदि सहस्रों नदियाँ, दामोदर, सोन आदि सैकड़ों नद पूरे वेग से अथाह अगणित जलराशि को लिये हुए समुद्र में आकर गिरते हैं। चाहें जितनी भी नदियाँ, चाहें जितने भी जल के साथ समुद्र में गिरें, किन्तु समुद्र न तो अपनी मर्यादा को छोड़ता है, न क्षुब्ध ही होता है, शान्त तथा गम्भीर ही बना रहता है। वर्षात् के पश्चात् के पश्चात् नदियों का जल स्वल्प हो जाता है, छोटी-छोटी नदियों का तथा क्षुद्र नालों का जल तो सूख भी जाता है, किन्तु समुद्र का जल न तो सूखता ही

है न कम ही होता है। वह ज्यों का त्यों परिपूर्ण, शान्त गंभीर, मर्यादित तथा विक्षुब्ध बना रहता है। बस, यही अन्तर ज्ञानी और अज्ञानी के विषयों के उपभोग में होता है। इसी बात को समझाते हुए भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी अर्जुन से कह रहे हैं।

भगवान् ने कहा—"अर्जुन! जैसे चारों ओर से भरे हुए नदियों के जल से समुद्र अपनी मर्यादा का त्याग नहीं करता, उसमें, वर्षा आदि के और भी जल प्रविष्ठ होते है। उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष में भी शब्द रूप रसादि विषय प्रवेश करते है, किन्तु निस्पृह होने के कारण उसे अशांत नही कर सकते। वह तो गम्भीर तथा शांत ही बना रहता है और जो कामों की कामना वाला विषयो पुरुष है, वह तो उन विषयों को पाकर अशांत तथा क्षुब्ध हो जाता है।"

सूतजी कहते है—मुनियो! इस प्रकार भगवान् ने स्थित-प्रज्ञ के लक्षण बताते हुए इस विषय का उपसंहार करते हुए इस स्थिति का जो नाम बताया है, इस विषय को मैं आप से आगे कहूँगा। आप इस विषय को दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

जैसे सरिता आइ-आइ सागरहिँ समावैं।
है जल तैं परिपूर्ण अचल नहिँ जलहि हिलावैं॥
नहिँ वह विचलित होहि नदी कितनी हू आवैं।
आइ-आइ के सहज भाव निज रूप गँवावैं॥
तैसे ही ज्ञानी हिये, भोग-विकार बिना किये।
मिले शान्ति पावै वही, शान्ति न कामी के लिये॥

ब्राह्मी स्थिति

[३६]

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शांतिमधिगच्छति ॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥*

(श्रीमग० गी० २ अ० ७१, ७२ श्लो०)

छप्पय

सकल कामना त्यागि रहित ममता तें होवै ।
अहंकर जो शत्रु मारि कैं जड़तैं खोवै ॥
भोगनि की नहिँ रही लालसा हिय में रंचक ।
विषयनि सँग नहिँ फिरै भोग-वन वनिकें बंचक ॥
शान्ति लाभ वेई करें, उदासीन जे भोगतैं ।
करम करें निष्काम जे, पावैं ताकूँ योगतैं ॥

---

* जो पुरुष समस्त कामनाओं को त्याग कर निर्मम निरहंकार तथा निस्पृह होकर वर्ताव करता है, वही शान्ति प्राप्त करता है ॥७१॥

हे कुन्तीनंदन ! यही ब्राह्मी स्थिति है, इसको प्राप्त करके पुरुष मोहित नहीं होता है, और इस स्थिति में स्थित होकर ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त हो जाता है ॥७२॥

तूणीर में जब तक वाण रहते हैं, धनुष वाण की लड़ाई
भी तक चलती है। तूणीर वाण से निःशेष हो गया-वाण
हित बन गया-तो फिर लड़ाई समाप्त हो जाती है। यह संसार
ो एक समरांगण है, इसमें सद्वृत्तियों और असद्वृत्तियों-दैवी
म्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति का-निरन्तर युद्ध होता रहता है।
भी दैवी सम्पत्ति बढ़ जाती है, कभी आसुरी सम्पत्ति बढ़
ाती है, कभी वह उसे दबा लेती है, फिर यह उसे पराजित
र देती है, यह युद्ध बराबर चलता रहता है। इस युद्ध का
ारण शुभ और अशुभ कामनायें-स्पृहा-ही है। यह विषयों की
पृहा ही युद्ध के लिये प्रेरित करती है। युद्ध होता है अहंता
मता के कारण। मैं ऐसा हूँ, मेरा ही प्रभुत्व होना चाहिये। यह
ार मेरा है। यह जाया, सुत, सम्पत्ति यश कीर्ति मेरी है। इस
रे पन में जो बाधा करे वही शत्रु उससे लड़ाई करनी पड़ती है।
ड़ाई में अशान्ति स्वाभाविक है। यदि लड़ते-लड़ते तूणीर के
ाण चुक जाँय, ममता समाप्त हो जाय, तो अहंता भी समाप्त
ो जायगी। स्पृहा या वासना अथवा कामना अहंता के ही
ारण होती है। जहाँ स्पृहा नहीं कामना नहीं विषया में भोग-
ासना नहीं वहाँ अहंता भी नही। अच्छा भाई अब हमने तो
ड़ाई बन्द कर दी अब तू जो चाहे सो कर। इसी का नाम
ान्ति है। जब तक अहंकार है, मैं ऐसा हूँ, मैं वैसा हूँ, मैं यह
कर डालूँगा, मैं वह कर डालूँगा। जब तक ममता है, यह मेरा
, तुम्हारा कैसे हो सकता है, मैं ईंट से ईंट बजा दूँगा, प्राणों
ा पण लगा कर इसकी रक्षा करूँगा।" ऐसी बातें भोगवासना
े कारण-विषयोंमें कामासक्ति के कारण-अत्यन्त बढी हुई स्पृहा
के कारण होती है तूणीर के वाण अहंता को और बढ़ा देते हैं,
वे शत्रु सेना के संहार में अपने को समर्थ समझते हैं। जहाँ सद्

बुद्धि आई, ममता छूटी अहंता कम हुई, कामनायें समाप्त हुईं भोगों के प्रति आकर्षण जाता रहा। वहाँ ही पुरुष निःस्पृह निर्मम और निरहंकार बन जाता है, उसकी अशांति मिट है और उसे शान्ति की प्राप्ति हो जाती है। जब तक युद्ध कारण समाप्त न होगा तब तक शान्ति प्राप्त न हो सकेगी आज सम्पूर्ण जगत अशान्त है, शान्ति चाहता है, किन्तु जिससे प्राप्त होगी उसके मूल कारण को नहीं खोजता अशान्ति जिससे बढ़ती है-विषय भोगों की बहुलता से-उसी लिए निरन्तर प्रयत्नशील बना रहता है। तुम्हारा जो गन्तव्य स्थान है और यात्रा उसके विपरीत दिशा में कर रहे हो तो तुम अपने गन्तव्य को कैसे पहुँच सकते हो और उससे अधिकाधिक दूर ही होते जाओगे। विषयों का अधिकाधिक उपयोग उनका प्रचुर मात्रा में संग्रह करना-उनके प्रति आसक्ति-स्पृहा कामना-रखना ये तो अशान्ति को बढ़ाने वाले हैं। अतः भोगों का त्याग ही शान्ति का सरल, सीधा, सरस सुखद सच्चा मार्ग है।

सूतजी कहते है—मुनियो ! भगवान् ने भोगों को त्याग का आग्रह नहीं किया। हमारा शरीर तो प्रारब्ध कर्मों के भोग के ही लिए बना है। यह भोगों के बिना टिक नही सकता। जब तक जीवन है, शरीर है, प्रारब्ध कर्मानुसार जो भोग प्राप्त होंगे, वे *अनिच्छा से ही सही भोगने पड़ेंगे।* पेट को भरने लिए कुछ न कुछ खाना ही पड़ेगा। तृषा की निवृत्ति के लि पेय पदार्थ पीने ही पड़ेंगे। प्राण रक्षा के लिये स्वांस प्रस्वांस लेनी ही पड़ेगी पृथ्वी, अप्, तेज वायु ये सब शरीर के भोग्य पदार्थ हैं इन्हीं से शरीर बना है इन्हीं से इसकी स्थिति है। पर इन भोगों के प्रति जो स्पृहा है, यही जन्म मरण का--संसारी बन्धन का-

कारण है। भगवान् ने कहा—ये भोग बिना स्पृहा के स्थितप्रज्ञ पुरुष के शरीर में ऐसे ही समा जाते हैं जैसे गंगा जी के प्रवाह में दुग्ध समा जाता है। वह समर्थ पुरुष उन भोगों को ऐसे ही पचा जाता है जैसे अगस्त जी आतापी को पचा गए थे। सबके पेट को फाड़ने वाला आतापी अगस्त जी के पेट में जाकर निर्वीर्य बन कर विलीन हो गया। इसीलिए भगवान् अर्जुन को समझाते हुए कह रहे हैं।

भगवान् ने कहा— हे अर्जुन ! कामना-विषयों में भोगेच्छा-यही बन्धन का कारण है। इसलिए जो पुरुष सभी प्रकार की कामनाओं का परित्याग कर देता है, स्पृहा रहित होकर आचरण करता है। जिसे किसी वस्तु में ममता नहीं। जिसे अपने कुछ होने का अहंकार नहीं ऐसे ही पुरुष को शान्ति देवी वरण करती है। शान्ति देवी सौति के साथ रहना नहीं चाहती। उसकी सौति हैं स्पृहा, अहंता ममता, अशान्ति। इन सबसे विमुक्त होकर वे एकाकी ही स्थितप्रज्ञ के साथ रमण करना चाहती है।

तैंने मुझसे चार प्रश्न किए थे। (१) स्थित पुरुष की परिभाषा क्या है (२) वह कैसे बोलता है (३) वह रहता कैसे है और (४) वह चलता कैसे है, विचरता कैसे है, व्रजन कैसे करता है अर्थात् क्या खटपट करता रहता है। मैंने क्रमशः तुमको विस्तार के साथ, दृष्टांतों के साथ, साधकों की बुद्धि में बैठ सके ऐसे सरलता के साथ वर्णन कर दिया। इसी का नाम ब्राह्मी स्थिति है। इस स्थिति को प्राप्त पुरुष का ही नाम स्थितप्रज्ञ है, उसी को प्रकारान्तर से समाधिस्थ, स्थितधी, प्रतिष्ठितप्रज्ञ, मत्पर, युक्त, योगी, समाहित चित्त, आत्मवशी, विधेयात्मा, रागद्वेष

वियुक्त, प्रसाद-प्राप्त, प्रसन्नचित्त, संयमी, मुनि, निःस्पृह, ि
कार तथा ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त पुरुष कहते है।

यह जो मैंने ब्राह्मी स्थिति बताई है, यह सहज वस्तु नहीं।
इसके लिए जीवन भर बड़ी लगन के साथ प्रयत्न
चाहिये। यह एक जन्म में भी प्राप्त नहीं होती। सहस्रों
से प्रयत्न करते-करते एक चरम देह-अंतिम शरीर प्राप्त
है। उस चरम देह में कोई तो ऐसे होते है, कि जन्म से
सिद्ध होते है, उन्हें ससारी वासनायें स्पर्श भी नही कर सकतीं
वे ब्राह्मीस्थिति प्राप्त जीवन्मुक्त सिद्ध होते है। उनके लिए
साधन नही कोई कर्तव्य नहीं शरीर जब तक रहा आवे,
आवे जब छूट जाय छूट जाय। वे तो विदेह मुक्त होते है।
शरीर में कुछ भोग बने रहते है, कुछ साधन शेष रह जाते हैं
तो वह संयमी साधक निरन्तर साधनों में लगा ही रहता है
उसे यदि अन्तिम स्वांस पर भी यह ब्राह्मीस्थिति प्राप्त हो
तो वह ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त हो जायगा, विमुक्त बन जायगा
फिर वह मोह को प्राप्त नही हो सकता। इसलिए अर्जुन
सच्चे साधक का एक मात्र जीवन का उद्देश्य इसी ब्राह्मी
स्थिति को प्राप्त करने का होना चाहिए।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवान् ने यह
विद्या वा औपनिषद ज्ञान वाला योगशास्त्र अर्जुन के प्रति कहा
इस अध्याय में सांख्य योग-अर्थात् ज्ञान योग-का भी वर्णन
और साथ ही निष्काम कर्म योग अर्थात् भक्ति का भी वर्ण
है किन्तु भगवान् के वचनों से ऐसा लगता है, कि उन
झुकाव ज्ञान निष्ठा की ओर अधिक है। परन्तु वास्तविक बा
ऐसी नही है। अर्जुन का आग्रह युद्ध छोड़कर-हिंसा से निवृत्त
होकर भैक्ष्य वृत्ति पर निर्वाह करने का था। भगवान् ने उसकी

तीव्र शब्दों में निंदा की और निष्काम कर्म योग की अर्थात् सर्व कर्म प्रभु के ही निमित्त करने की बात कही। इस पर अर्जुन ने पूछा—परमात्मा में चित्त लगाकर प्रभु की ही सेवा समझ कर जो निष्काम भाव से कर्म करता है, उसकी स्थिति क्या है, उसकी परिभाषा रहन सहन कैसा है। इस पर भगवान् ने ऐसे लक्षण बताये जो ज्ञान प्राप्त परमहंस सन्यासी के होते है। तब अर्जुन को यह बात बड़ी बेतुकी सी लगी, कि एक ओर तो कहते है नपुंसकता मत करे, युद्ध मत छोड़े, कर्म कर युद्ध कर। दूसरी ओर ज्ञान निष्ठा परमहंस स्थिति प्राप्त सन्यासी की प्रशसा करते हैं। तो मैं क्यों न ज्ञान निष्ठा को ही ग्रहण करूँ। यद्यपि वर्णाश्रम धर्म के अनुसार मुझे सन्यास लेने का अधिकार नहीं है, फिर भी मैं ज्ञाननिष्ठ होकर यत्न तो कर ही सकता हूँ। क्षत्रिय को वानप्रस्थ का तो अधिकार है ही। मैं घोर तपस्या करूँ और फिर जैसे महाराज मुचुकुंद से भगवान् ने कहा था—तुम अगले जन्म में ब्राह्मण होकर विमुक्त बन जाओगे। उसी प्रकार दूसरे जन्म में मैं ब्राह्मण बन कर सन्यासी हो जाऊँगा और मुक्त हो जाऊँगा। इस हिंसा के कार्य में वैराग्य होने पर भी क्यों प्रवृत्त होऊँ। इसी शंका को अर्जुन आगे उठावेंगे और भगवान् उसका समाधान करेंगे। यह विषय बड़ा गूढ़ है आप इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

अरजुन तोतैं कही ब्रह्म पदवी जिनि पाई।
जो जा थिति कूँ पाइ होहि मोहित नहिँ भाई॥
ब्राह्मी थिति है यही नहीं है सुगम सबनि कूँ।
विषयी आवैं नहीं श्रेष्ठ समुझैं विषयनि कूँ॥
अंतकाल में हू पुरुष, जा इस्थिति कूँ पाइगो।
ब्रह्मानन्द निमग्न है, जग के भोग भुलाइगो।

॥ श्री हरिः ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

[१]

अर्जुन उवाच

कहो केशव! क्या करूँ ?

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥❀॥

(श्री भग० गी० ३अ० १, २श्लो०)

छप्पय

अरजुन बोल्यो प्रभो! आपुने ज्ञान सुनायो।
बड़ी प्रशंसा करी ज्ञानकूँ श्रेष्ठ बतायो॥
केशव! है यदि ज्ञान श्रेष्ठ क्यों करम बताओ।
उत्तम ज्ञान महान, कर्म में नहीं फँसाओ॥
ज्ञानवान बनि जगत में, ह्वै विरक्त विचरन करूँ।
करूँ जनार्दन करम क्यों, क्यों रनमें मारूँ मरूँ॥

❀ अर्जुन कहने लगे—हे जनार्दन! यदि कर्मों की अपेक्षा बुद्धि (ज्ञान) को ही आप श्रेष्ठ मानते हैं, तो फिर हे केशव! मुझे घोर

जीव और ब्रह्म, मुमुक्षु और ज्ञानी सिद्ध, शिष्य और गुरू, नर और नारायण तथा भक्त और भगवान् एक वृक्ष के दो पक्षी हैं। अन्तर केवल इतना ही है, कि नर संशय युक्त है और नारायण संशय रहित है। नर जिज्ञासु है नारायण उसकी जिज्ञासा को शांत करने वाले हैं, नर अपूर्ण है नारायण परिपूर्ण हैं। परन्तु दोनों में ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध है, कि एक दूसरे के बिना रह नहीं सकते। एक साथ खाते पीते हैं, चलते बैठते हैं। साथ-साथ तपस्या करते हैं। उन्हें कोई भी एक दूसरे से पृथक नहीं कर सकता। दोनों को पृथक सम्बोधन भी नहीं किया जाता। सहोदर जो ठहरे। दोनों पृथक्-पृथक् प्रतीत होने पर भी भेद रहित हैं। भेदवादियों को भेद से प्रतीत होते हैं अभेदवादियों को अभेद से। कोई भेदाभेद के चक्कर में न पड़ कर उन्हें अचिन्त्य कहते हैं। दोनों का जो सम्वाद है, वह मंगल मय है। *नारायण कहते हैं*—तुम नर ! ऐसा जानो कि जीवन में नम्रता लाना, गुरुओं के सम्मुख प्रणिपात करना, उनसे प्रश्न करना, और उनकी सेवा सुश्रूषा करना ये ही ज्ञान प्राप्ति के सरल सुगम साधन हैं। विना नम्रता के, विना प्रणिपात किये, विना प्रपन्न बने कोई ज्ञान प्राप्ति का अधिकारी ही नहीं बन सकता। इसलिये जीवन में सरलता, शुचिता नम्रता लाओ। विनम्र होकर गुरुजनों से जिज्ञासु भाव से प्रश्न करो और अहंकार को छोड़कर उनकी सब प्रकार से सेवा करो। इससे होगा क्या, वे तत्त्वदर्शी ज्ञानी पुरुष तुम्हें ज्ञान का उपदेश करेंगे जिससे

कर्मों में क्यों नियुक्त करते हैं ? ॥१॥

आप इन पुरे मिले से वचनों द्वारा मेरी बुद्धि को विमोहित-सी बना रहे हैं। इसलिये आप निश्चित एक ही बात कहिये। जिसके द्वारा मैं श्रेय को प्राप्त कर सकूँ ॥२॥

तुम इस संसार बन्धन से विमुक्त बन जाओगे। तुम्हारी अहंता ममता छूट जायगी। तुम कर्तृत्व दोष से रहित बन जाओगे। इसलिये तुम्हारे हृदय में जो भी शंका हो, उसे बिना किसी संकोच के कह दो। उसे मुझसे श्रद्धा भक्ति पूर्वक पूछ लो।

गुरुदेव का ऐसा आश्वासन पाकर संशय और मोह में पड़ा नर पूछता है। बोलता है (अर्जुन-उवाच) वह अभिमान के वशीभूत होकर नहीं पूछता। अत्यन्त विनीत भाव से सुन्दर सम्बोधनों से युक्त वाणी बोलता है। अत्यन्त श्रद्धा भक्ति और प्यार में बार-बार सम्बोधन किया जाता है। भगवान् ने पीछे कहा—तेरा अधिकार कर्म करने में ही है। फिर आगे कह दिया—देखो, भैया! ये कर्म में रत पुरुष बड़े कृपण-लोभी लालची-होते हैं। क्योंकि बुद्धियोग की अपेक्षा कर्म बहुत ही निम्नस्तर का साधन है। इससे अर्जुन समझ न सके कि भगवान् का अभिप्राय क्या है। या तो वे मुझे बहुत ही निम्न कोटि का साधक मानते हैं, इसीलिये 'तेरा' पर जोर देकर कहते हैं—"भैया! तेरा तो अधिकार कर्म करने में ही है। उसके फल में तेरा अधिकार नहीं, इसलिये निरन्तर कर्म करता जा।" फिर एक स्थान पर कहते हैं—अरे कुटिया के चारों ओर गङ्गा जी का जल भर जाने पर साधक फिर कुआ के पास नहीं जाता, उसके चारों ओर जल ही जल भरा रहता है। इसी प्रकार ज्ञान हो जाने पर ज्ञानी को कर्म की अपेक्षा नहीं रहती। यहाँ तेरा अधिकार नहीं कहा। इसलिये प्रतीत होता है, मैं तो कर्म का अधिकारी हूँ, मुझसे जो श्रेष्ठ साधक होंगे, वे ज्ञान के अधिकारी होंगे। इसलिए जिज्ञासु को शंका हो गयी। उसी शंका के निवारणार्थ अर्जुन ने प्रश्न किया।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने सांख्ययोग अर्थात्

ज्ञान निष्ठा की प्रशंसा की और स्थितप्रज्ञ-जो प्रज्ञा-बुद्धियोग-ज्ञाननिष्ठा में स्थिर रहे उसके लक्षण बताकर अंत में कह दिया—"अर्जुन ! जो मैंने समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताये हैं, ऐसी स्थिति जिसकी हो गयी है, वही ब्राह्मी स्थिति वाला ज्ञानी महापुरुष है। इस स्थिति को जिसने भी प्राप्त कर लिया है, वह कभी भी मोह रूपी पंक में नहीं फँस सकता। पहिली अवस्था में, युवास्था में, या वृद्धावस्था में प्रयत्न करने पर भी ऐसी स्थिति प्राप्त न हुई हो और मृत्यु के समय-अन्तकाल में ही सही-एक क्षण को भी यह स्थिति प्राप्त हो जाय, तो मुमुक्ष ब्रह्मरूप निर्वाण स्थिति को प्राप्त हो जाता है। ऐसी इस सांख्य योग-ज्ञान योग-की महिमा है।"

इस पर अर्जुन ने यही निष्कर्ष निकाला कि बुद्धि योग ही भगवान् के मत में सर्वश्रेष्ठ साधन है, और ब्राह्मी स्थिति प्राप्त पुरुष ही सर्वश्रेष्ठ है किन्तु इसके पहिले भगवान् ही अपने श्रीमुख से कह चुके हैं कि "हे भारत ! तू युद्ध कर" फिर कहा है—तुम जो युद्ध क्षेत्र में अपने सगे सम्बन्धियो को देखकर विचलित हो रहे हो—थर थर काँप रहे हो-ऐसा तुम्हें नहीं करना चाहिये। क्योंकि युद्ध करना तो तुम्हारा स्वधर्म है। स्वधर्म का परित्याग पाप है, क्षत्रिय के लिये धर्मयुद्ध से बढ़कर श्रेयस्कर-कल्याण का मार्ग-दूसरा कोई है ही नही। इसलिये तुम स्वधर्म का पालन करो-युद्ध करो-ऐसे धर्म को तो बड़े भाग्य-शाली सुखी क्षत्रिय ही प्राप्त करते है। अन्य साधनों मे तो स्वर्ग द्वार कपाट पाटन उद्घाटन-के लिये साधन करने पड़ते हैं, किन्तु क्षत्रिय के इस महान परम-धर्म से तो स्वर्ग के द्वार अपने आप खुले हुए मिलते हैं, इससे तुम सब कुछ छोड़कर युद्ध कर्म को ही करो।" तुम युद्ध करने दृढ़ निश्चय कर लो। इसमें

विचार करने की आवश्यकता नहीं। तुम युद्ध के लिये तैयार तो हो जाओ, तुम जो भाई बन्धुओं के वध से पाप लगने की आशंका करते हो, यह उचित नहीं। तुमको पाप लगेगा ही नहीं।" इस इस प्रकार भगवान् ने पहिले युद्ध रूपी कर्म करने पर अत्यधिक बल दिया। इस पर अर्जुन की बुद्धि विमोहित बन गयी। उन्हें यह आशंका हुई कि भगवान् का तात्पर्य क्या है, या तो कर्म योग और ज्ञान योग के साधक पृथक-पृथक होते होंगे, भगवान् ने मुझे निष्काम कर्म योग का ही अधिकारी समझा होगा इसीलिये बारम्बार मुझे कर्म करने को प्रेरित करते हैं। जब यही बात है, तो ब्राह्मी स्थिति का वर्णन करने का--उसकी प्रशंसा करने का--क्या कारण है। यह कहो कि भगवान् ने दोनों मार्ग बता दिये और मुझे स्वतन्त्र छोड़ दिया कि इनमें से जो तुम्हें अच्छा लगे चुन लो। तो मैंने तो युद्ध त्याग का--सन्यास का--मार्ग पहिले ही सुन लिया था। मैंने अस्त्र शस्त्र त्याग ही दिये थे। भिक्षा वृत्ति पर निर्वाह करने का निश्चय कर ही लिया था, किन्तु भगवान् ने इस पर मेरी बड़ी भारी खिल्ली उड़ाई। मेरे कार्य को अनार्यजुष्ट, अस्वर्गकर, अकीर्तिकर बताया। भगवान् मुझसे कराना क्या चाहते हैं। युद्ध भूमि न होती वैसे मुझे समझाते तो ठीक था, कि यह योग मार्ग है, यह भक्ति मार्ग है, यह ध्यान मार्ग है, यह ज्ञान मार्ग है, युद्ध को तैयारियाँ हो रही हैं सब अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित आमने सामने खड़े हैं और भगवान् ज्ञान मार्ग--संन्यास धर्म--की प्रशंसा कर रहे हैं यह तो गङ्गा जी की गैल में मदार के गीतों के समान है। भगवान् मेरे लिये जो एक निश्चित मार्ग उचित समझते हों उसी का मुझे उपदेश देना चाहिये। यही सोचकर अर्जुन श्री भगवान् से पूछने लगे--"हे प्रभो! संसार में जितने भी

जन हैं, वे आपसे अपनी अभिलषित वस्तुओं की प्राप्ति के निमित्त प्रार्थना करते हैं। जिसे जो भी वस्तु चाहिये सब आपसे ही मांगते हैं। इसीलिये आप 'जनार्दन' कहलाते हैं। मुझे भी कुछ शंका है, उसे आपके अतिरिक्त किससे पूछूँ, सो हे जनार्दन ! यह बताइये कि आपके कथनानुसार कर्म की अपेक्षा बुद्धियोग--ज्ञान--ही श्रेष्ठ है तो हे क्लेशो के नाश करने वाले केशव ! मुझे युद्ध रूपी-घोर वीभत्स कार्य में प्रेरित क्यों कर रहे हैं ? क्यों बार-बार युद्ध करो, युद्ध करो की रटन लगा रहे है। यह तो आप मिली जुली सी बातें कर रहे हैं।

यह जो रामाय स्वस्ति रावणायस्वति-राम का भी कल्याण हो, रावण का भी कल्याण हो--वाली उक्ति को आप चरितार्थ कर रहे हैं, कृपा करके इसे छोड़िये। मुझसे आपका कोई संकोच तो है नहीं। आपको किसी का भय भी नहीं फिर आप ऐसी गङ्गा जमुनी-मिली जुली-जो बात कह कर मुझे ठग क्यो रहे हैं ? मेरी बुद्धि को मोह-से मे क्यों डाल रहें है। यद्यपि मैं यह भली भाँति जानता हूँ, आप मुझे जान बूझ कर कभी भी मोह में न डालेंगे, और सर्वज्ञ होने से आप से भूल होना भी असम्भव है। अतः त्रुटि मेरी ही होगी। इसलिये सशय वाली बात छोड़िये। मिली जुली बात मत बताइये। जिससे मेरा कल्याण हो, मुझे श्रेय की प्राप्ति हो जाय, ऐसा एक ही उपाय मुझे निश्चित रूप से बता देने की कृपा करें। मैं तो आपका अनुरक्त भक्त हूँ, विशाल बुद्धि भो नहीं है। अतः खुलासा करके-स्पष्ट शब्दों में मुझे मेरे कर्तव्य का बोध करा दें।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन ने अत्यन्त करुणा भरे शब्दो में अपनी मानसिक व्यथा बतायी और अपनी निष्ठा के सम्बन्ध में भी जिज्ञासा की तब भगवान् ने विस्तार पूवक जो

इस विपय में कहा, उसे मैं आप लोगों को आगे वताऊँगा, आशा है आप मेरे कथन को दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।

छप्पय

कबहूँ मोकूँ नाथ ! ज्ञान अति श्रेष्ठ बतावैं।
करैं प्रशंसा करम युद्ध मोतैं करवावैं॥
कहैं सकाम अकाम करैं घपलो दोउनि में।
चकरावै मम बुद्धि मोह होवै मम मन में॥
एक बात निश्चित करो, ज्ञान पन्थ धारन करूँ।
जामें हो कल्यान मम, कहो युद्ध केशव ! करूँ॥

कर्मयोग और ज्ञानयोग दो निष्ठायें हैं

[२]

श्री भगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥*

(श्री भग० गी० ३ अ० ३, ४ श्लोक)

छप्पय

बोले श्री भगवान—न मैंने घपलो कीयो ।
दोऊ दये मिलाय ध्यान तैंने नहिँ दीयो ॥
द्वै निष्ठा है लोक माहिँ मैंने बतलाई ।
फिर तैं दोउनि कहूँ तोड़ न्यारी समुझाई ॥
सांख्ययोग की एक है, ज्ञानी नित जामें रहैं ।
करम योग है दूसरी, करम योग जाकूँ कहैं ॥

संसार में दुःख का कारण कर्म है। कर्म करने से उनके फल

---

*श्री भगवान् ने कहा—देखो, भैया ! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठायें मेरे द्वारा पूर्व में बतायी गयी हैं। सांख्य वालों की ज्ञान योग से और योगियों की निष्ठा कर्म योग से है ।।३।।

कर्मों के न करने से ही कोई मनुष्य निष्कामता को प्राप्त नहीं हो

मिलेंगे। फल संचित होते जायँगे। उनसे नाना योनियों में जन्म मिलेगा। जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु भी ध्रुव है। संचित कर्मों में से एक जन्म के जो भोग हैं, उन्हें प्रारब्ध कर्म कहते हैं। उसका नाम भाग्य भी है, वे दिखायी नहीं देते अतः अदृष्ट, भी कहलाते हैं। प्रारब्ध कर्मों का बिना भोग किये नाश ही नहीं होता। कर्म करने पर जो नई-नई वासनायें-भोगेच्छायें उठती हैं उनसे क्रियमाण कर्मों का निर्माण होता रहता है। अतः संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मों की शृंखला ऐसी सुदृढ़ है, कि इससे छुटकारा नही मिलता है। बन्धन बढ़ता ही जाता है। इसी का नाम भवरोग है संसार बंधन है, मोह का जाल है। किसी प्रकार यह मोह का जाल टूट जाय। भवरोग मिट जाय संसार बंधन छिन्न-भिन्न हो जाय, तो सब दुःख दूर हो जायँ, समस्त चिन्तायें अशांति मिटकर प्राणी परमसुखी बनकर शान्ति लाभ करे। अहंता ममता-मोह ही हमें अधिकाधिक अशांत और दुखी बनाता है। इस मोह का क्षय हो जाय, नाश हो जाय, उसी स्थिति का नाम मोक्ष है। प्राणीमोक्ष चाहता है। जीव का परम पुरुषार्थ मोक्ष ही है। जीव के समस्त प्रयत्न मोक्ष के लिये ही हैं। बन्धन का कारण कर्म ही हैं। परन्तु बिना कर्म किये प्राणी एक क्षण भी नही रह सकता। तब तो यह बड़ी भारी विवशता है। कर्म के बिना प्राणी क्षण भर भी रह नहीं सकता और बन्धन का कारण कर्म ही है। तब मोक्ष कैसे प्राप्त हो। यदि कर्म युक्ति पूर्वक किये जायं तो कर्मों को करते हुए उनके बन्धनों से बचा जा सकता है। जो ऐसी युक्ति बताते हैं जो कर्मों का शासन करते हैं उन्हें शास्त्र कहते हैं।

सकता और न कर्मों के त्याग मात्र से ही कोई सिद्धि को प्राप्त हो सकता है ॥४॥

इसलिये कौन-सा कार्य करने योग्य है, कौन-सा कार्य नहीं करने योग्य है, इसमें शास्त्र ही प्रमाण है।

अब शास्त्र किसे कहते है? यह प्रश्न उठता है। शास्त्र उसे कहते हैं, जो बिना किसी दूसरे की सहायता के हमें मोक्ष का सीधा मार्ग बता दें। जो मोक्ष का सीधा मार्ग न बता सके वह शास्त्र नहीं। आधुनिक भौतिक विज्ञान के ग्रंथ हमें मोक्ष का माग नहीं वताते वे यही बताते हैं, कि अमुक-अमुक पदार्थों के मिश्रण से अमुक-अमुक उपयोगी भौतिक वस्तु बन जायगी, अतः वे भौतिक ग्रंथ हैं। मोक्ष प्राप्ति कराने वाले शास्त्र नहीं।

जैसे आयुर्वेद है, वह शास्त्र है, जब तक हमने आयुर्वेद के ग्रंथ नहीं देखे थे, तब तक हम यही समझते थे कि आयुर्वेद ग्रंथों में रोगों के निदान और उनके निवारणार्थ सोंठ, मिरच, पीपल, हरड़ बहेड़ा, आमला आदि-आदि औषधियों का विवरण होगा। किन्तु चरक आदि मुनियों की संहितायें देखीं तो पता चला यह तो मुक्ति तक पहुँचाने का शासन करने वाला शास्त्र है। उनका कहना है, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल कारण है आरोग्य-आयु का सदुपयोग। वे आरोग्य के द्वारा मोक्ष प्राप्त कराना चाहते हैं। वात्स्यायन आदि महर्षि कहते है, मोक्ष काम के द्वारा प्राप्त हो सकती है। जैमिनी आदि महर्षि कहते हैं मोक्ष धर्म के द्वारा प्राप्त हो सकती है, पाणिनीय पतंजलि आदि महर्षि कहते हैं, मोक्ष शब्द के सम्यक् प्रयोग—से व्याकरण से—प्राप्त हो सकती है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न ऋषियों ने मोक्ष प्राप्ति के भिन्न-भिन्न उपाय बताये हैं। कर्म करे बिना तो प्राणी रह नहीं सकता और कर्म ही संसार में जकड़ता है अतः युक्ति से--योग से—सावधान होकर—हाथ पाँव को बचाकर—कर्मों को ऐसी कुशलता से करे कि न साँप मरे न लाठी टूटे। इसी का नाम साधन है

योग है। जैसे किसी को पुराना अजीर्ण रोग है। और अजीर्ण में भोजन को विषवत् बताया है। उसका उपाय लंघन है। अर्थात् भोजन न करना। पुराना अजीर्ण है, के दिन भोजन न करेगा। भोजन विना किये तो रह नहीं सकता, मर जायगा। अतः भोजन युक्ति से करे। लंघन करे किन्तु युक्ति से करे। लघु भोजन को भी लंघन कहा है (लंघनं लघु भोजनम्) भोजन भी करे तो ऐसा करे जो हलका हो, हृदय को सुख देने वाला हृद्य हो, शीघ्र स्वयं पचने वाला और अजीर्ण को भी पचाने वाला हो। जैसे पतली खिचड़ी हो, उसमें हींग जीरे का छौंक लगा हो, चित्रक, अजमोद, सोंठ, काली मिरच पीपल, अदरक पड़ा हो। यद्यपि खिचड़ी भोजन ही है, किन्तु अनेक प्रकार के योग द्वारा वह अजीर्ण को नाश करने की औषधि बन गयी है, इसी प्रकार कर्म बन्धन का ही कारण है, किन्तु उसे शास्त्रीय पद्धति से–युक्ति के द्वारा–कुशलता पूर्वक किया जाय तो बन्धन का कारण न होकर मोक्ष का साधन बन जायगा। जो कर्मों को युक्ति के द्वारा कौशल पूर्वक करते हैं उनको साधक कहते हैं।

उस साधक की मनः स्थिति कैसी है उसी को निष्ठा कहते हैं। रुचि, विश्वास, मान्यता, दशा, ये सब निष्ठा के ही अन्तर्गत हैं। मोक्ष के मार्ग बहुत हैं। साधक की मनः स्थिति को दो भागों में बाँट देते हैं। एक तो वे लोग जो हृदय प्रधान हैं, दूसरे वे हैं जो कर्म प्रधान हैं। हृदय प्रधान लोग अन्तःकरण–मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार –के द्वारा विचार विवेक, वैराग्य आदि विषयों पर मनन करते रहते हैं। कर्म प्रधान वाह्यकरण–बाहर की ५ ज्ञानेद्रिय और ५ कर्मेद्रियों द्वारा कार्य किया करते हैं। वेदों में कहीं तो कर्मों की प्रशंसा है, और कहीं ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ बताया है। बहुत-सी श्रुतियाँ परस्पर में भिन्न-भिन्न-सी प्रतीत हैं। उन भिन्न-

भिन्न-सी प्रतीत होने वाली श्रुतियों को एकतानता करने के ही लिये मीमांसा शास्त्र है। मीमांसा के दो भाग हैं, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा। कर्म दो प्रकार के होते हैं, एक तो वार्ता-व्यवसाय-आजीविका उपार्जन के निमित्त किये जाने वाले कर्म जैसे यजमानी, कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य आदि इस लोक के कर्म-दूसरे यज्ञयागादि परलोक सम्बन्धी कर्म। कर्म करने वालों का कहना है, कि यज्ञ के लिये किये जाने वाले कर्मों को छोडकर अन्य सभी कर्म बन्धन के कारण है। इसलिये निरन्तर यज्ञ यागादि कर्मों में ही निरत रहना चाहिये।

वेद की विभिन्न ऋचाओं को दो भागों में बाँटा गया है, एक कर्म परक दूसरी ज्ञान परक। कर्मपरक ऋचाओं का जिनमें समन्वय है उन्हें पूर्व मीमासा कहते है और जिनमें ज्ञान परक श्रुतियो का समन्वयात्मक विवेचन है उसे उत्तर मीमांसा या वेदान्त दर्शन कहा जाता है मीमांसक लोग कर्म को ही प्रधान मानते हैं उनका कहना है, शुभ कर्म करते रहो, निरन्तर यज्ञ यागादि कर्मों में निरत रहो, उससे आपको अक्षय स्वर्ग की प्राप्ति होगी, उनके मत में यही मुक्ति है। वेदान्तियों का कहना है, सर्वस्व त्यागकर-कर्मो से सन्यास लेकर विचार विवेक पूर्वक तत्व वस्तु का अनुसंधान करते रहो। वेदान्तियों में तत्व वस्तु पर मत भेद है। कोई निर्गुण निराकार सच्चिदानंदघन परमात्मा को परम तत्व मानते हैं। कोई सगुणसाकार ब्रह्म को ही परमतत्व कहते है। उनके मत में श्री कृष्ण से परे कोई भी तत्व नहीं। श्री कृष्ण ही परमतत्व हैं।

इससे यही सिद्ध हुआ कि सृष्टि के आदि काल से—प्राचीन काल से—दो प्रकार की निष्ठाये परम्परा से चली आ रही हैं। एक ज्ञान निष्ठा दूसरी कर्म निष्ठा। श्री कृष्ण जी के काल में

ज्ञान निष्ठा का जो भी रूप रहा हो, कर्म निष्ठा का यही रूप था, कि बड़े-बड़े यज्ञयाग करते रहो। नित्य पंच महायज्ञ करो। अमावस्या को पितरों के लिये दर्श यज्ञ करो, पूर्णिमा को देवताओं के निमित्त पौर्णमा यज्ञ करो। चतुर्मास्य में चातुर्मास्य यज्ञ करो। पशु यज्ञ, सोमयज्ञ, अश्वमेघ यज्ञ, राजसूय आदि-आदि बड़े-बड़े यज्ञ हैं, जिन का वेदों में विशद वर्णन है। मीमांसकों का कहना है वेद में कर्म कांड की ही सबसे अधिक ९६ हजार ऋचायें हैं। अतः वेद कर्म प्रधान है। ज्ञान सम्बन्धी ऋचाओं को तो प्रशंसात्मक कह कर उपेक्षणीय या गौण कर देते है। भगवान् श्री कृष्ण ने कर्मयोग को द्रव्य यज्ञों तक ही सीमित न रखकर उन्होंने यज्ञ की विशद व्याख्या कर डाली है। वे द्रव्य यज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ, ज्ञान यज्ञ आदि समस्त शुभ कर्मों को यज्ञ की संज्ञा दे देते हैं। वे मीमांसकों के कर्म वाद को कर्म योग नहीं मानते वे कर्मयोग के साथ निष्काम को और जोड़ते हैं। प्रभु प्राप्ति के लक्ष्य निष्काम भावना से—तुम जो भी कार्य करो वही यज्ञ है। मीमांसकों के कर्म की और उनके स्वर्ग रूपी मोक्ष की उन्होंने खिल्ली उड़ायी है। प्रभु प्राप्ति या मुक्ति के निमित्त अंतःकरण से ही नहीं वाह्यकर्ण अर्थात् वाह्य इन्द्रियो से समस्त कर्मों को करते रहने पर हा बल दिया है। इन सबका उल्लेख यथा स्थान होगा। इसलिये जहाँ कर्मयोग आवे वहाँ निष्काम भाव से की जाने वाली भगवत् भक्ति, निष्काम भाव से किये जाने वाला योग, यज्ञ स्वाध्याय आदि सभी को समझना चाहिये।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने पूछा कि भगवन्! कभी आप कर्मों के करने पर अत्यधिक बल देते है और कभी समस्त कर्मों का परित्याग करके सन्यास धर्म को श्रेष्ठ बताते हैं, इससे मैं किंकर्तव्य विमूढ़-सा बन गया हूँ। मुझे एक निश्चित

मार्ग बता दो जिससे मुझे परम कल्याण की प्राप्ति हो सके।

इस पर भगवान् ने कहा—अर्जुन! मैंने प्राचीनकाल से ही दो निष्ठायें बतायी हैं उन निष्ठाओं को सब लोग समझने में असमर्थ हैं। जब तक शरीर में पाप रहते हैं, तब तक परमार्थ की बातें बुद्धि में बैठती नहीं। सहस्रों जन्मों में जिन्होंने तपस्या यज्ञ याग दान धर्मरूप शुभ कर्म किये हैं। उन्हीं के अघ-पाप-क्षीण होते हैं। ऐसे ही क्षीण पाप पुरुष मुमुक्षु या अनघ कहलाते है। हे अर्जुन! तुम अनघ हो, पाप रहित हो, कल्मष विहीन हो। इसीलिये मैं तुम्हें उपदेश करता हूँ। तुम पापी होते, अघवान् होते तो मै तुम्हें कभी उपदेश न करता। जो पापी पुरुष हैं, उनके हृदय में सदुपदेश ठहर ही नहीं सकता। पाप रहित होने से तुम मेरे उपदेश श्रवण करने के अधिकारी हो, अतः बताता हूँ सुनो—'देखो, जो सम्यक् आत्मबुद्धि वाले बुद्धि जीवी बुद्धिमान ज्ञानी पुरुष है, वे तो ज्ञानयोग की निष्ठा वाले हैं और जो कर्म प्रधान प्रकृति के कर्म योगी हैं, वे कर्मयोग की निष्ठावाले हैं।"

अर्जुन ने पूछा—"ज्ञाननिष्ठ लोग क्या-करते हैं, कैसे रहते हैं, उनकी रहन-सहन आचार-विचार के विषय में बताइये।"

भगवान् ने कहा—सन्यासी लोग भी कर्म का अनुष्ठान नहीं करते। वे घर छोड कर विरक्त होकर-निष्कर्म बन कर-वन में वास करने लगते हैं।"

अर्जुन ने कहा—महाराज! यह मार्ग तो बहुत ही अच्छा है, न ऊधो का लेना न माधो का देना। सब काम छोड़कर चुप-चाप जाकर वन में बैठ जाय।"

भगवान् ने हंसकर कहा—भैया! उत्तम तो है, कर्म तो पत्थर भी नहीं करता। केवल कर्मों को छोड़ देने मात्र से ही कोई सर्व कर्म शून्यता रूप ज्ञान निष्ठा को प्राप्त नही कर सकता।

और सोवा—घर से निकल चलें, परिवार वालों से पृथक् होकर वन में वास करने लगे। काषाय वस्त्र पहिनकर घर-घर से मधूकरी माँगते फिरे। इतने से ही सिद्धि मिल जाय, सो भी बात नहो। कर्म छोड देने से ही कोई सन्यासी नही बन जाता।

अर्जुन ने पूछा—"कर्म जब बन्धन के ही कारण हैं, तो उन्हें छोड़ देना बुरा है क्या?"

भगवान् ने कहा—बुरा तो नही, किन्तु कर्मों को कोई छोड़ सके तब न? कर्मों को छोड देना कोई साधारण काम है?

सूतजी कहते है—मुनियो! कर्म वाह्य इन्द्रियों–हाथ, पैर, वाणी मल मूत्रेन्द्रियों तथा आँख, कान, मुख, नासिका और त्वचा रूपी ज्ञान कर्म इन्द्रियों से ही नही होते, कर्म तो अन्तःकरण मन बुद्धि चित्त और अहंकार द्वारा भी होते रहते है। शरीरधारी ऐसा कौन-सा प्राणी है, जो सर्वथा कर्मों से विरत हो सके। उन कर्मों का नियम न करना ही पुरुषार्थ है। इसी पर बल देते हुए भगवान् जो उपदेश देंगे उसका वर्णन मै आगे करूँगा।

छप्पय

करमनि को नहिँ त्याग बनै दोउनि में अरजुन।
करिकें पहिले करम पाँइ निष्ठा साधक जन॥
होवैं नहिँ निष्काम करैं बिनु करम योगिजन।
केवल करिकें त्याग सिद्ध होवैं नहिँ मुनिजन॥
चाहैं निष्ठा ज्ञान की, करमयोग होवै भले।
करिकें दोऊ करम ही, सिद्ध होहिँ जावै चले॥

कर्म किये बिना कोई रह ही नहीं सकता

[३]

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ *

(श्री० भग गी० ३ अ, ५, ६ श्लोक)

छप्पय

करम करे बिनु तीन काल महँ रहे न कोई ।
चाहें जागत रहो भले ही जाओ सोई ॥
साँस और प्रस्वास करम ही जाकूँ मानो ।
छिनभर नाहिँ न रहें करम बिनु तुम सब जानो ॥
जीव चराचर जगत के, प्रकृति जनित गुणवश रहें ।
करम करन कूँ विवश सब, करम बिना कबहूँ न रहें ॥

---

* क्योंकि बिना कर्म किये कोई भी जन एक क्षण भी नहीं रह सकता । प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों के द्वारा सभी प्राणी अवश होकर कर्मों को करते रहते हैं ॥५॥

जो पुरुष ऊपर से तो कर्मेन्द्रियों को रोके रहता है और मन से इन्द्रियों के भोगों का चिन्तन करता रहता है उस मूढ बुद्धि को मिथ्याचारी कहते हैं ॥६॥

ज्ञानेन्द्रिय से न करोगे तो मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार रूपी अन्तःकरण से कुछ चिन्तन करते रहोगे। कर्म किये बिना कोई रह ही नही सकता। सन्यास लेना भी कर्म है, भिक्षा माँगने जाना भी कर्म है, खाना भी कर्म है, मल मूत्र विसर्जन भी कर्म है इस पर कह सकते हैं—केवल शरीर सम्बन्धी कर्म यद्यपि कर्म हैं, किन्तु इनके करते हुए भी जो निरन्तर ब्रह्म चिन्तन करता है उसे कर्मजनित किल्विस-पाप-दोष नहीं लगता। यह तो ठीक ही है जो ब्रह्म में लीन हो गया है, उसका तो कर्तृत्व ही समाप्त हो गया है। हम सर्व साधारण साधक के सम्बन्ध में बता रहे हैं, कि कर्म के बिना प्राणी का रहना असंभव है। यद्यपि कर्म ही वंधन का कारण भी है, किन्तु कर्म वासना बांधती है। इसलिये निष्काम बुद्धि से किया हुआ कार्य बन्धन का कारण नहीं होता। इसी बात पर भगवान् श्री कृष्ण जी समस्त गीता में बल देते रहेंगे। यद्यपि संन्यास निष्ठा का वे निराकरण नही करते। वे मानते है, जिसका अन्तःकरण निरन्तर वैराग्य युक्त होकर सद्असद् के विवेक में ही लगा रहे, तो उससे तो वाह्यकर्म होंगे ही, किन्तु बहुत से ज्ञानाभिमानी जो यह कहते हैं, कि सन्यास लिये बिना मोक्ष हो नही हो सकती। ब्रह्मरूप लोक की इच्छा से ही प्रव्रज्या- सन्यास-ग्रहण करते हैं यह लोक केवल सन्यासी को ही प्राप्त होता है। भगवान् इस बात का निराकरण करते है। वे कहते हैं, निष्काम कर्मों को अंत तक करते रहने वाला भी उसी लोक को प्राप्त होता है, जिसको कर्म त्यागी वीतराग सन्यासी। यही नही, वे निष्काम कर्म योगी को विशिष्ट–उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ– मानते है। गीता में यही विशेषता है। वे कर्मों के स्वरूपतः त्यागने पर बल नहीं देते, अपितु उसकी निन्दा करते हैं।

वेष दो प्रकार से बनाया जाता है, एक तो सचाई के साथ

अपना कर्तव्य पालन की बुद्धि से। दूसरा अपनी आजीविका चलाने के निमित्त दंभ से—लोगों को प्रभावित करके उन्हें ठगने के लिये। बहुत से बिना वेष बनाये ही साधारण रूप में अपना कर्त्तव्य पालन करते रहते हैं। दूसरे लोग उन्हें सर्व साधारण पुरुष ही समझते हैं ऊपर से वे सर्वसाधारण लोगों की भाँति बने रहते हैं, किन्तु भीतर ही भीतर वे अपने कर्त्तव्य का पालन करते रहते हैं। जैसे कोई जनता की शुद्धभावना से सेवा करने वाला राजचर (पुलिस सिपाही) है। वह अपने गणवेष (वरदी) में सुसज्जित होकर अपने कर्तव्य का पालन कर रहा है, तो वह उचित कर रहा है। लोग उसे देखते ही उसकी वेश-भूषा से ही समझ जाते हैं यह राज्य का चर (सिपाही) है। दूसरे डाकू चोर भी अपनी आजीविकार्थ—लोगों को लूटने पाटने को अपने पेट तथा परिवार को पालने को राजचर गणवेष (वरदी) धारण कर लेते हैं, तो वे मिथ्याचारी हैं, दंभी हैं, कपटी हैं पाखंडी हैं। भगवान् ऐसे मिथ्याचारियों की निन्दा करते हैं। तीसरे वे गुप्तचर है, जो सर्वसाधारण लोगों के रूप में रहते हैं, कोई गणवेष धारण नहीं करते—किन्तु साधारण वेष में भी अपने कर्तव्य का तत्परता से पालन करते हैं। भगवान् उनकी बहुत प्रशंसा करते हैं, उन्हें सर्वश्रेष्ठ विशेष व्यक्ति बताते हैं।

वैसे ज्ञाननिष्ठ संन्यास मार्ग अनादि है श्री शुक याज्ञवल्यादि महर्षियों ने इसे अपनाया है, फिर भी भगवान् निष्काम कर्म युक्त वासना सन्यास को बिना किसी प्रकार विशेष वेष बनाये कर्म योग का विशेष आदर करते हैं, उसकी प्रशंसा करते हैं इसके लिये सर्वप्रथम वे स्वयं अपना ही उदाहरण प्रस्तुत करते हैं तथा व्यास वसिष्ठ जैगीषव्य और जनकादि राजर्षियों का उदाहरण देते है।

पहिले जिनको अत्युत्कट वैराग्य होता था, वे वन में भोजपत्र

की काषाय रंग की छाल पहिन कर रहते थे। तूमा या बाँस का सुगमता से जंगल में मिलने वाला पात्र रखते थे। कोई विरले ही ऐसे होते थे उनके न तो मठ होते थे, न उनकी कोई जमात ही चलती थी। दूसरे ऐसे होते थे जो लोक संग्रह के लिये निष्काम भाव से केवल परमार्थोपयोगी कार्यों में लगे रहते थे। ऐसे ही ऋषि महर्षि सब होते थे, किसी-किसी के साथ १०।१० सहस्र भजन करने वाले साधक होते थे वे कुलपति कहाते थे। उनमे बहुत से सपत्नीक गृहस्थ महर्षि होते थे। जैसे विश्वामित्र, भरद्वाज, वसिष्ठ, जमदग्नि आदि-आदि। बहुत से अपत्नीक नैष्ठिक होते थे, जैसे महर्षि कण्व शौनक आदि। कर्म त्यागी परमहंस अवधूत शुकदेव के समान तो कोई विरले ही होते थे, किन्तु वे भी अपने पूर्वज, व्यास, परासर, शक्ति और वसिष्ठ को यह उपदेश नहीं देते थे, कि तुम सन्यास ले लो। सन्यास के बिना गति नहीं। अन्ययुगो में सन्यास मार्ग निषेध तो नही था, किन्तु अपवाद स्वरूप कोई-कोई होते थे। कलियुग में तो प्रत्यक्ष रूप से सन्यास का निषेध है। धर्मराज युधिष्ठिर के राज्य में ही श्रीकृष्ण भगवान् के रहते-रहते कलियुग आ गया था, किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण के प्रभाव से कलियुग ने पैर नहीं फैलाये थे। सर्वान्तर्यामी भगवान् ने इसीलिये ब्रह्मार्पण बुद्धि से—निष्काम कर्म पर ही सर्वाधिक बल दिया। धर्मराज युधिष्ठिर ने यह वरदान माँग लिया था कि पाँच हजार वर्ष तक कलि का प्रभाव न बढ़े—वर्णाश्रम धर्म थोड़ा बहुत बना रहे। उस समय में कोई अत्युत्कट वैराग्यवान् अपवाद स्वरूप सन्यास ले भी सकता था, किन्तु कलियुग के पाँच सहस्र बीत जाने पर तो जैसा सन्यास लोग लेते हैं, उससे भगवान् ही बचावे। भगवान् ने लोगो को मिथ्याचारी बताया है। अतः इस युग में तो ब्रह्मार्पण बुद्ध

से—केवल भगवत् सेवा भाव से—निष्काम कर्म योग का ही भगवान् उपदेश करते हैं। उसी को भूमिका बाँधते हुए अर्जुन की शंका का भगवान् उपदेश दे रहे हैं।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन से भगवान् ने जब दो नियम पूर्व स्थितियों-निष्ठाओं का वर्णन किया, तब यह स्वाभाविक ही पूछने वाले की इच्छा होती है, कि महाराज! दो तो ठीक हैं, किन्तु इन दो में से आप किसे श्रेष्ठ समझते हैं। इसी का वर्णन करते हुए भगवान् निष्काम कर्मयोग की श्रेष्ठता को बताते हुए कह रहे हैं। अर्जुन से भगवान् बोले—अर्जुन! यह कहना तो सरल है, कि समस्त कर्मों को छोड़ छाड़ कर निरन्तर ब्रह्म चिंतन में ही निमग्न हो जाओ। किन्तु अपवाद स्वरूप किसी एक आध को छोड़कर क्या ऐसा संभव हो सकता है?"

अर्जुन ने पूछा—"संभव क्यों नहीं हो सकता महाराज!"

भगवान् ने कहा—अरे, भाई! सभी प्रकृति के अधीन हैं। प्रकृति जनित जो सत्व रज और तम ये तीन गुण हैं, ये गुण तो कर्म कराने के लिये ही हैं। गुणों में क्षोभ होने से ही सृष्टि का कार्य आरम्भ हो जाता है। कोई भी प्राणी ऐसा नहीं दीखता जिसमें ये तीनों गुण अपना कार्य न कर रहे हों। ये जो राग द्वेषादि स्वाभाविक गुण हैं ये अवश होकर प्राणियों से कर्म कराते रहते हैं। आप गुणातीत हो जाओ, तो दूसरी बात है, नहीं तो बिना कर्म किये क्षण भर भी नहीं रह सकते।

अर्जुन ने पूछा—कर्मेन्द्रियों से कुछ काम न करें आँख मूँदकर चुपचाप बैठा रहे तो?"

भगवान् ने कहा—अरे बाबा! कर्मेन्द्रियों से किया हुआ कार्य ही कर्म थोड़ा होता है। कर्म तो मन से भी होता है। मनन करना भी कर्म है। जिसे अपने कर्तव्य अकर्तव्य का विवेक नहीं ऐसा

विमूढ़ात्मा बाहरी इन्द्रियों को रोककर मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहे वह तो मिथ्याचारी है, बगुला भक्त है।

शौनक जी ने पूछा—सूतजी ! बगुला भक्त कैसा ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! श्री रामचन्द्र जी लक्ष्मण जी के साथ सीता जी को खोजते-खोजते पम्पा सरोवर पर पहुँचे। पम्पा सरोवर का जल परम स्वच्छ था, उसमें मछलियाँ भी बहुत थीं। भगवान् ने देखा एक स्वच्छ रंग का बगुला एक पैर से खड़ा हुआ, दोनों नेत्रों को बन्द किये हुए ध्यान मग्न बना जल में खड़ा है। श्री रामचन्द्र जी उसे देख कर बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने अपने छोटे भाई लक्ष्मण से कहा—"सुमित्रानदवर्धन लक्ष्मण ! देखो-देखो, यह जल के भीतर एक पैर से खड़ा हुआ कैसा तपस्वी बगुला है। आँखें बन्द करके ध्यान में निमग्न है। इनकी ऐसी तपस्या को धन्यवाद है।"

लक्ष्मण जी जब तक कुछ उत्तर दें तब तक एक बड़ा मत्स्य बोला—"भगवन् ! आप इसके बाह्यरूप को ही देख रहे हैं। ऊपर से तो यह ध्यान का ढोंग बनाये हुए है किन्तु भीतर इसके हृदय में छुरी चल रही है। यह भगवान् का ध्यान न करके मछली का ध्यान कर रहा है। जहाँ इसे कोई जल के ऊपर आती हुई मछली दिखायी देगी झट से उसे पकड़ कर गड़प कर जायगा। चट से निगल जायगा। सहयोगी ही सहयोगी के चरित्र को जानता है, आपने तो इसे अभी-अभी देखा है। हमारे समीप तो यह वर्षों से रह रहा है। मछली खा-खाकर इसने हमारे वंश का नाश कर दिया है, हमें निष्कुलो कर दिया है। सो; शौनक जी बगुला भगत को ही मिथ्याचारी कहते हैं। कहो तो एक मिथ्याचारी की कथा और सुना दूँ ?"

शौनक जी ने कहा—हाँ-हाँ सूत जी ! मिथ्याचारी की कथा अवश्य सुनाइये।

सूत जी बोले—"महाराज ! एक सुप्रसिद्ध तीर्थ स्थान में एक दंभी रहता था। उसके पुत्र पौत्र सब थे, किन्तु वह परमहंस महात्मा का वेष बनाकर दूर-दूर चला जाता। उसके कुछ साथी उसके मिथ्या भक्त बनकर पीछे से जाते। वह दंभी वर्षों केवल तिल ही खाता, तिल का तैल पीता उसकी लघु शंका से भी तिल का सार तैल ही निकलता। वह कहीं बड़े शहर के समीप घोर जंगल में जाकर मिथ्या समाधि लगाकर बैठ जाता। एक दो दिन के पश्चात् उसके साथी उसे चारों ओर सबसे पूछते ताँछते खोजते-खोजते वहाँ जाते और लोगों में हल्ला करते ये बड़े सिद्ध महात्मा हैं, इनके मूत्र में मसाल जलती है। वह नग्न रहता था। मोटा शरीर था। सहस्रों नरनारी उसे देखने को आने लगते। उसके छिपे साथ उसके पेशाब को लोटे में ले लेते उससे मशाल जला देते। लोगों को विश्वास हो जाता। कोई किसी धनिक से कहता—एक मन सुवर्ण भूमि में गाड़ दो सात दिन तक इनके मूत्र से उसे सींचते रहो, दुगुना हो जायगा।" कुछ लोग लोभवश चक्कर में आ जाते। दुगुने के लोभ से सोना गड़वा देते। दोचार दिन पश्चात् अवसर पाकर उस सुवर्ण को निकाल कर चंपत हो जाते। यद्यपि वह वास्तव में परमहंस समाधि मग्न त्यागी महात्मा नहीं था, किन्तु लोगों को ठगने के लिये उसने ऐसा मिथ्याचारी वेष बना रखा था। ऐसे ही मिथ्याचारी संन्यासी का वेष बनाये लोगों को ठगने को पेट पालने को बहुत फिरते रहते हैं। वे मिथ्याचारी कहलाते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—सो, मुनियो ! मिथ्याचारियों से बचते रहना चाहिये निष्काम भाव से प्रभुप्रीत्यर्थ भगवान् की भक्ति करते हुए

लोक संग्रहार्थ नियत कर्म कर्मी को करते ही रहना चाहिये। इसी बात को भगवान् और स्पष्ट करके कहते हैं।

छप्पय

कछु ढोंगी यह करें करम इन्द्रिनि कूँ हठतैं।
रोकि अकरमी बनें कहें हम विरत करमतैं॥
चितन मन तैं करैं अकरमी कैसे होवैं।
धुनाबुनी मन करै भले जागें या सोवैं॥
दम्भी मिथ्याचार वे, कहैं करैं हम योग हैं।
मनतैं चिन्तैं विषय ते, इन्द्रिनि के जो भोग हैं॥

निष्काम कर्मयोग श्रेष्ठ है

[४]

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥*
(श्री भग० गी० ३ अ० ७,८ श्लो०)

छप्पय

वे हैं सबतैं श्रेष्ठ रोकि इन्द्रिनि कूँ मनतैं।
कारज सबरे करैं करम फल तजि कैं तनतैं॥
बन्धन को है हेतु वासना जग भोगनि की।
भले न तनतैं करो भावना है जा मन की॥
अनासक्त है कैं करैं, इन्द्रिय द्वारा करम जो।
श्रेष्ठ करम योगी वही, जानें करमनि मरम जो॥

---

* हे अर्जुन! और जो पुरुष मन के द्वारा इन्द्रियों को वश में करके अनासक्तभाव से कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग को करता रहता है, वह श्रेष्ठ है॥७॥

इसलिये भैया! ते नियत कर्मों को करता रह। क्योंकि अकर्मी बने रहने की अपेक्षा कर्म करते रहना श्रेष्ठ है। और फिर कर्म न करने से शरीर-यात्रा भी तो नहीं चल सकती॥८॥

एक बात को हम भी बार-बार याद दिलायेंगे और पाठक भी याद रखेंगे। इसे पुनरुक्ति दोष न समझेंगे। गीता में जहाँ भी कर्मयोग या केवल योग शब्द आवे उसका निष्काम कर्मयोग या ब्रह्मार्पण बुद्धि से किया हुआ कर्म ही समझें मीमांसकों का कर्मयोग न लें। वैसे ज्ञान मार्ग कर्म मार्ग ये दो अति प्राचीन अनादि मार्ग हैं। जिन्हें कर्मकांड मार्ग और वेदान्त मार्ग कहा है। वेद कर्म प्रधान है। कर्म से अभिप्राय यज्ञ यागादि पुण्य कर्मों से है। तीनों वेदों में यज्ञ की ही प्रशंसा है। ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञ की विधियों का बड़े विस्तार से वर्णन हुआ है, और परस्पर में उन विधियों में भी भिन्नता है। महर्षि जैमिनी ने उनकी मीमांसा एक-तानता-की है। इसलिये कर्म कांडियों को मीमांसक कहते हैं उनका कहना है कर्म चार प्रकार के हैं। नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषेध। कर्म बन्धन का कारण है इसे वे भी मानते हैं, किन्तु उनका कहना है बन्धन का कारण निषिद्ध तथा काम्य कर्म ही है। यज्ञ के लिये किये हुये कर्म बन्धन के कारण नही है। ज्ञान मार्ग वाले कर्ममात्र को बन्धन का कारण समझते हैं, अतः वे कर्म सन्यास को ही एक मात्र मोक्ष का साधन मानते हैं। किन्तु कर्म किये बिना तो प्राणी क्षण भर भी नहीं रह सकता—उसकी शरीर यात्रा भी नहीं चल सकती—इसलिये वे कहते हैं, केवल शरीर यात्रा के लिये किया हुआ कर्म बन्धन का कारण नहीं। किन्तु गीताकार कर्ममार्ग ज्ञानमार्ग दोनों निष्ठाओं को स्वीकार करते हुए भी दोनों का समन्वय कर देते हैं। इसीलिये निष्ठायें न कहकर 'निष्ठा' शब्द का प्रयोग किया। वे मानते हैं। जैगीषव्य शुकादि समस्त कर्मों का त्याग करके संन्यास धर्म का आचरण करने लगे। वे भिक्षा से शरीर यात्रा चलाते थे। भिक्षा के लिये भी किसी पर जोर नहीं डालते थे—आग्रह नहीं करते थे। गृहस्थियों के द्वार पर जाकर

खड़े हो जाते थे, और उतनी देर तक खड़े रहते थे, जितनी देर में कोई अपनी एक गौ को दुहले। उतने समय में उसने भिक्षा दे दी तो ठीक है, न दी तो चुपचाप चले आते थे, दूसरे गृहस्थी के द्वार पर जाकर नारायण हरि करते थे। दूसरे वसिष्ठ विश्वामित्र नेगीपव्र आदि महर्षि जनक राजर्षि अपने नियत कर्मों को निष्कामभाव से ब्रह्मार्पण बुद्धि से करते हुए भी सिद्धि को प्राप्त हो गये। तो गीताकार का कहना है। कर्मों में जो कामनारूपी विष है, उसे मार कर करो तो कर्म बन्धन का कारण नहीं है। जैसे संखिया है, विष है जो उसे खायगा वह मर जायगा यह निश्चित बात है, किन्तु उसे ही शोधकर संस्कार करके उचित मात्रा में विधि पूर्वक सेवन करो तो वह अमृत का कार्य करेगा। पारा है उसे पी जाओगे तो शरीर में से फूटकर निकलेगा मृत्यु का कारण बनेगा। किन्तु उसी पारद को देह शुद्धि और लौह शुद्धि द्वारा स्वेदन, मर्दन, मूर्च्छन, उत्थान, पातन, रोधन, नियमन, दीपन, गगनग्रास, चारण, गर्भद्रुति, बाह्यद्रुति, जागरण, रंजन, सारण, क्रामण और वेधादि कर्मों से शुद्ध करके सेवन करे तो अमृत का काम करेगा। संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो औषधि न हो, किन्तु उसका किस योग से कैसे सेवन करना चाहिये ऐसे योजक दुर्लभ है। श्रीकृष्ण सबसे बड़े संयोजक हैं। उनका कहना है। सन्यास मार्ग में दो प्रकार के लोग होते हैं, एक तो ऐसे जो जन्म से ही वैराग्यवान् हैं, जिन्हें संसारी मोह ममता अपनी ओर आकर्षित कर ही नहीं सकतीं। जैसे शुकदेवजी! उनको तो कर्म करने की आवश्यकता ही नहीं। वे तो जन्मजात संन्यासी हैं दूसरे ऐसे लोग जो संन्यास धर्म की प्रशंसा सुनकर उत्सुकता से, लोभवश या किसी के बहकावे में आकर आवेश में संन्यासी का वेष बना लेता है और कर्मेन्द्रियों के कर्म से विरत

होकर "मैं ब्रह्म हूँ" काषायवस्त्र पहिनने से ही, दण्डधारण मात्र से ही नर तुरन्त नारायण रूप बन जाता है ऐसे श्रुत मधुर वाक्यों से विमोहित श्रुति स्मृति कर्मों से रहित—सन्यासी वेषधारी व्यक्ति मिथ्याचारी है, विमूढ़ात्मा है, कपटी, असदाचारी तथा आत्मवंचक है। इसी प्रकार कर्मयोगियों में भी प्रकार के लोग हैं, एक तो वे जो निष्कामभाव से, लोक संग्रह के निमित्त जनतारूपी जनार्दन की सेवा के भाव से, प्रभु पूजा के निमित्त ब्रह्मार्पण बुद्धि से, बिना किसी लौकिक फल की इच्छा से निष्कामकर्मों का अनुष्ठान करते हैं उनके वे कर्म बन्धन का कारण न होकर मोक्ष के कारण होते है। दूसरे जो लोभ लालचवश तो कर्म करते हैं, किन्तु लोगों पर प्रकट करते हैं, मै तो जनतारूपी जनार्दन की सेवा कर रहा हूँ, परोपकार के निमित्त कर्म कर रहा हूँ ऐसे लोग जो अपने को कर्मयोगी घोषित करते हैं, वे दम्भी हैं मिथ्याचारी और पाखंडी हैं। पाखंड और मिथ्याचारी तो कहीं भी हों वे तो निन्दनीय हैं ही, किन्तु जो एक तो श्रौत स्मार्त समस्त कर्मों त्याग करके केवल शरीर निर्वाह के निमित्त भिक्षावृत्ति पर निर्वाह करने वाला है, दूसरा निष्काम भाव से सभी नियत कर्मों को ब्रह्मार्पण बुद्धि से करते हैं इनमें से कौन उत्तम है। तो कहते हैं भाई दोनों ही उत्तम है दोनों ही मोक्ष के अधिकारी है दोनों ही कर्मबन्धनों से विमुक्त हैं इस पर जिज्ञासु पूछता है—नहीं, तो भी दोनों मे से किसकी अधिक उपयोगिता है, किसकी विशेषता है। तो भगवान् कहते हैं, भाई सच्ची पूछते हो, तो विशेषता तो कर्मयोगी की है, सच्चा संन्यास धर्मावलम्बी विमुक्त हो जायगा इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं, किन्तु निष्काम कर्मयोगी-मुक्ति का अधिकारी होते हुए भी लोक संग्रह में विशिष्ट रहेगा। संसार के अन्य मुमुक्षु उसका आदर्श ग्रहण करेंगे। जो ज्ञाननिष्ठा वाले है उनसे आप

हठ पूर्वक कर्म कराने का आग्रह करो तो यह भी उनके साथ अन्याय है। परन्तु यहाँ प्रश्न तो अर्जुन का है। अर्जुन कहते हैं आप इन दोनों में से मेरे लिये जो एक उपयोगी मार्ग समझो उसे निश्चय पूर्वक बतादो। तब भगवान् ने अर्जुन के प्रति कहा—तुम निष्काम कर्म योगी बन जाओ। अर्जुन! तू नियत कर्मों को कर, क्योंकि अकर्मी बनने से तो ब्रह्मार्पण बुद्धि से कर्म करते रहना उत्तम है। इसी बात का विवेचन भगवान् ने आगे किया है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने ऊपर से त्याग का स्वाँग दिखाने वाले और मन से विषयों का चिन्तन करने वाले बनावटी त्यागी को मिथ्याचारी बताया, तब अर्जुन ने पूछा—मन से चिन्तन करने वाला तो ढोंगी है, किन्तु जो मन से भी चिन्तन नहीं करता और कर्मेन्द्रियों से कर्म भी नहीं करता वह ठीक है न? भगवान् ने कहा—उसके ठीक होने में तो कोई संदेह नहीं किन्तु अर्जुन! मैं अपने मन की बात बताता हूँ। जो ज्ञानेन्द्रिय सहित मन का तो संयम कर लेता है क्योंकि अनर्थ का हेतु तो मन है। वस्तु या कार्य न कोई अच्छा है न बुरा भावना ही उसे अच्छे बुरे की संज्ञा देती है। इसलिये इन्द्रियों और मन को तो काबू में किये रहे और अपनी स्थिति के अनुसार अपने वर्ण आश्रम के अनुसार ब्रह्मार्पण बुद्धि से कर्मों को अनासक्त भाव से करते रहने वाले को मैं श्रेष्ठ मानता हूँ। उसकी कुछ विशिष्टता है।

अर्जुन ने कहा—महाराज! फिर आपने घपला कर दिया। फिर वही गोल माल बात कह दी। मेरे लिये एक निश्चित मार्ग बता दो?

हँसकर भगवान् ने कहा—अच्छा, तुम्हारे लिये निश्चित

बता दें। आज्ञा की क्रिया का प्रयोग कर दें अच्छा, तो तू नियत कर्म को कर।

अर्जुन ने पूछा—नियत क्या ?

भगवान् ने कहा—अरे भाई! नियत वही फल की इच्छा से रहित होकर-नियमित-नियम से विधान किया हुआ श्रौत और स्मार्त कर्मों को नित्य कर्मों को नियत कहते हैं।

अर्जुन ने पूछा—"कर्म करने का ही आप आग्रह क्यों करते हैं?"

भगवान् ने कहा—इसलिये कि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करते ही रहना श्रेष्ठ है।

अर्जुन ने पूछा—कर्म न करें तो हमारी हानि ही क्या होगी?"

हँसकर भगवान् बोले—कर्म न करोगे, तो यह चोला कै दिन चलेगा? कर्म न करने से शरीर यात्रा भी भली भाँति सिद्ध न होगी।

अर्जुन बोले—क्यों महाराज! ये त्यागी विरागी ज्ञानी सन्यासी सब मर ही जाते हैं क्या? जैसे भिक्षा से इनका निर्वाह होता है वैसे ही मेरा भी निर्वाह हो जायगा।

भगवान् ने कहा—भिक्षा माँगना भी तो एक कर्म ही है।

अर्जुन ने कहा—वह तो केवल शरीर निर्वाह के निमित्त किया हुआ कर्म है उससे पाप नही लगेगा। वह बन्धन का कारण नहीं।

भगवान् ने कहा—"जैसे केवल देह निर्वाह के लिये किया हुआ कार्य बन्धन का कारण नहीं होता, उसी प्रकार यज्ञ के लिये किया हुआ कर्म भी बन्धन का कारण नहीं होता।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् ने यज्ञ के लिये कर्म

किस भावना से करना चाहिये इसका विवेचन जैसे किया है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

शास्त्र विहित करतव्य करम करि भैया! अरजुन।
बैठे ठाले कहा करोगे भ्रमत जगत मन॥
करम करन है श्रेष्ठ अधम है अकरम रहिबो।
करम बिना जग माहिँ पार्थ है दुखई सहिबो॥
करै नहीं यदि करम तू, कैसे भोजन पाइगो।
होहि देह निर्वाह नहिँ, तू भूखनि मर जाइगो॥

यज्ञार्थ कर्म बन्धन का कारण नहीं

[५]

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥*

(श्रीम० गीता ३ अ० ९, १० श्लोक)

छप्पय

यज्ञ हेतु जो करम-करम वेई उत्तम है ।
यज्ञ विना जो करम बन्ध जग सबहिं अधम है ॥
कर्म बन्ध तब होहि करै जब अन्य करम नर ।
वेद विहित शुभ कर्म होहिं वेई अति सुखकर ॥
कुन्तीसुत ! आसक्ति तैं, हटि कें ही करमनि करो ।
यज्ञ निमित सब भाँति तैं, करम करो हरि हिय धरो ॥

---

* परन्तु हे कौन्तेय ! यज्ञ के ही निमित्त कर्म करना चाहिये । यज्ञ के अतिरिक्त कर्म करने वाला व्यक्ति कर्म बन्धन में बँध जाता है, अतः तू आसक्ति रहित होकर यज्ञार्थ ही कर्मों को कर ॥९॥

ब्रह्मा जी ने इस प्रजा को पहिले यज्ञ सहित रच कर लोगों से कहा था, कि तुम इस यज्ञ के द्वारा ही बढ़ो, यह यज्ञ ही तुम सब की इच्छित वस्तु देने वाला हो ॥१०॥

यज् धातु देव पूजा, संगतिकरणदान आदि अनेक अर्थों में व्यवहृत होती है। वैसे सभी धातुएँ अनेक अर्थ वाली होती हैं। परन्तु जिस धातु मे यज्ञ बना है, उस धातु का प्रयोग तो परमार्थ कामो में ही किया जाता है। कर्म दो प्रकार के होते हैं इह-लौकिक और पारलौकिक। जिन कर्मों के करने से इसी लोक में सुख मिले उसे इहलौकिक कर्म कहते है, जैसे कृषि व्यापार आदि पारलौकिक कर्म वे कहाते है, जिनमें इह लौकिक सुख चाहे मिले न मिले परलोक में दिव्य लोकों में सुख मिले और अन्त में परम सुख मोक्ष की प्राप्ति हो। गुरु के निकट अध्ययन करने वाला द्विज वटु को कौन सा इहलौकिक सुख है। दिन भर परिश्रम करता है, उपवास करता है, अग्नि होत्र करता है, शरीर को सुखाता है, इन्द्रियों के सुखों से वंचित रहता है। किन्तु अन्त में परलोक में उसे परम सुख की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार यज्ञ एक पारलौकिक कर्म है। यदि किसी संसारी सुख की कामना से यज्ञ न किया गया हो, तो यज्ञ से बढ़कर पावन कार्य कौन हो सकता है। यद्यपि कर्म बन्धन के कारण है, किन्तु निष्काम भाव से किया हुआ यज्ञ कर्म बन्धन का कारण न होकर भक्ति का कारण है। आप कहोगे कि युक्ति पूर्वक किये हुये तो सभी कार्य उत्तम है। बात तो ठीक है, किन्तु शास्त्रों में दो प्रकार के कर्म बताये हैं, एक विधिकर्म दूसरा निषेध कर्म—एक कर्तव्य एक अकर्तव्य। उन्हें ही विहित अविहित भी कहते हैं। शास्त्र जिन कर्मों को करने को कहता है, उन्हें तो कर्तव्य कर्म विधि कम विहित कर्म कहा जाता है। शास्त्र जिन कर्मों का निषेध करता है, जिन कर्मों से मनुष्यो को रोकता है मना करता है, वे कर्म चाहे ऊपर से कैसे भी भड़कीले दिखायी दें वे निषिद्ध कर्म हैं। उन्हें नही करना चाहिये। आप कहेंगे कि शास्त्र में तो

वेश्याओं के भी धर्म बताये है हमने सुना है चौर शास्त्र भी है, शास्त्र में तो व्यवाय, मांस, मदिरा का भी विधान है। यद्यपि वेश्या वृत्ति चोरी, जारी, सुरापान, मांस भक्षण निषिद्ध कार्य है, किन्तु इनके लिये विधान क्यों है।" ऐसी शंकायें वे ही लोग करते हैं, जो शास्त्रों का मर्म नही जानते। इनके भी विधि विधान है, किन्तु वे लौकिक शास्त्र हैं। जैसे कृषि का भी शास्त्र है, किन्तु कृषि करने से कोई मोक्ष की प्राप्ति थोडे ही हो जायगी किन्तु कृषि के बिना प्राणी रह नहीं सकता, अतः खेती करनी ही पड़े तो इन-इन बातो को बचाकर करनी चाहिये। वेश्यावृत्ति यद्यपि नीच कार्य है, किन्तु जिनके वंशपरम्परा से चला आया है, या किसी विवशता के कारण यह व्यवसाय स्वीकार किया है, तो उसे बिना नियम के मनमाने ढग से करना चाहिये। शास्त्र में उसके भी नियम है। चोरी यद्यपि निषिद्ध कर्म है, किन्तु कोई अत्यन्त विवशता में करनी ही पड़े तो उसके भी नियम है, घरवाले की अत्यन्त आवश्यक दैनिक काम की वस्तुओं को न उठाना चाहिये।

एक बड़े शास्त्री पंडित थे। कई दिन से खाने को अन्न नही मिला। सोचा—क्या करें, न हो तो चोरी ही करें। फिर सोचा—किसी के घर में करें। यदि धन हीनों के करें तो उन्हें कष्ट होगा। व्यवसाइयों के करें तो उन्हे असुविधा होगी। चलो, राजा के यहाँ करें, उन्हें किसी वस्तु की कमी नहीं है। गये राजा के यहाँ। पहरे वाले ने पूछा—कौन हो ?" पडित जी झूठ कैसे बोल सकते थे, शास्त्र कहता है-सत्यंवद-सत्य ही भाषण करो। बोले—हम चोर है ? उसने देखा ब्राह्मण है, पंडित है हँसी करता है। वह कुछ नहीं बोला। राजा के शयनागार में घुस गये। मणियों के दीपक जल रहे थे। सोने चाँदी के बर्तन

रखे थे। हीरा मोती के हार टँगे हुए थे। शास्त्रज्ञ पंडित ही ठहरे। सोचने लगे—सुवर्ण चोरी तो महापातकों में से है। मणि मुक्ता, चाँदी आदि धातुओं की चोरी निषेध है, फल की चोरी सुवर्ण चोरी के समान है। इस प्रकार सबको छोड़ते-छोड़ते भंडार में पहुँचे। अन्न की चोरी भी निषिद्ध मिठाई भी निषिद्ध अन्त में भूसी रखी थी। सोचा—भूसी की चोरी के सम्बन्ध में कुछ नहीं हैं। इसी को ले चलें। भूसी बाँधकर चलने लगे। तभी तक राजा को जगाने वाले-गाने वाले सूत मागध वंदी द्वार रोक कर गाने-बजाने का उपक्रम कर रहे थे। पंडित जी को पता ही न चला कि अरुणोदय का समय हो गया है। चोर ही ठहरे, अब क्या करें राजा के पलग के नीचे छिप गये। राजा विद्वान् था कविता प्रेमी था। गायक गाने लगे, मणियों के प्रकाश में उठकर उसने अपना महान् वैभव देखा। अप्सरा के समान पत्नी सजी-बजी सो रही थी हाथी चिंघाड़ रहे थे, घोड़े हिनहिना रहे थे सूत मागध वंदी स्तुति गा रहे थे, राज्य सेवक मंत्री हाथ जोड़े आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़े थे, राजा को अपना वैभव देखकर कविता करने की सूझी। उसने इस आशय की कविता बनायी—स्वच्छ चाँदनी से भी उज्वल महल हैं, हाथी चिंघाड रहे हैं, घोड़े हिनहिना रहे हैं। दुग्ध फेन के सदृश शैया है, मनोनुकूल पत्नी है, आज्ञाकारी सेवक सचिव हैं।" इस प्रकार तीन पद तो बना चुके चौथा पद नहीं बन रहा था। राजा बार-बार तीनो चरणों को दुहरावें। अब पंडित जी से नहीं रहा गया। जो जिस वस्तु का व्यसनी होता है, वह वस्तु सम्मुख आने पर व्यसनी पर रहा नहीं जाता। पंडित जी विद्या व्यासंगी थे। तुरन्त बोल उठे—"इतना सब होने पर भी आँखें मिच जाने पर कुछ भी नहीं है। (संमीलने नयनयोः नहि किंचिदस्ति)" राजा गुणग्राही थे। इस सुन्दर उपयुक्त उक्ति को

सुनकर बोले—आप कौन है ?

पंडित जी ने कहा—"हम चोर हैं ?"

राजा ने कहा—"यहाँ कैसे आये ?"

पंडित जी—चोरी करने आये ?

राजा—किसी ने रोका नही। अपना परिचय दिये बिना चले आये।

पंडित जी—पहरेदार ने पूछा था, हमने कह दिया चोर हैं।

राजा—आपने क्या-क्या चोरी की ?

पंडित जी—अपनी पोटली दिखाते हुए कहा—"इस भूसी को चोरी की।"

राजा—"यहाँ इतनी वस्तुएँ थी, सोना, चाँदी मणि, मुक्ता, धन धान्य इनकी चोरी क्यों नहीं की।"

पंडित जी बोले—राजन् ! इन वस्तुओं को देखकर मन तो करा, किन्तु शास्त्र आड़े आ गया। शास्त्र में सुवर्ण चोरी महापाप है, और भी वस्तु निषेध है। भूसी चोरी का कोई निषेध वचन न मिलने से केवल यही चुराई।"

यह सुनकर राजा उनके पैरो में पड़ गया। धन्य है पंडित-राज ! आप जैसे चोर को पाकर मैं कृतार्थ हो गया। इतने भारी शास्त्रज्ञ मेरे राज्य में भूखे रहें, मुझे धिक्कार है। ब्रह्मन् ! आज से आप मेरे राज्य पंडित हुए एक लक्ष सुवर्ण मुद्राएँ वर्ष में आपको मिला करेंगी।"

इस कथा का अभिप्राय इतना ही है कि पंडित ने निषिद्ध कर्म अवश्य किया किन्तु उसे भी मर्यादा के भीतर ही किया। व्यवाय, मांस भक्षण, सुरापान ये निषिद्ध कर्म है, किन्तु करना ही हो, तो इन्हें मर्यादा के साथ करें। जैसे सुरापान करना ही है, तो सौत्रामणि यज्ञ करके उससे बची हुई का पान करें (सौत्रामण्यां

सुरां पिबेत्) यहाँ पिबेत् विधि वचन नहीं है। पीना ही चाहिये यह बात नहीं है। यदि पीने की उत्कट इच्छा ही हो तो सौत्रामणि यज्ञ करके ही पीवे। अन्य समय भूलकर भी न पीवे। तात्पर्य निषेध में ही है। एक सज्जन एक महात्मा के पास गये बोले—"महाराज ! कोई ऐसा उपाय बताओ कि मेरी शराब छूट जाय, बहुत प्रयत्न किया छूटती ही नहीं है। बिना उसके मुझ पर रहा ही नहीं जाता।"

महात्मा अनुभवी थे—"बोले, तुम भगवान् का भोग लगा कर पिया करो।"

उसने कहा—"क्या महाराज ! शराब का भी भगवान् को भोग लग सकता है ?"

महात्मा ने कहा—"लग क्यों नहीं सकता। शास्त्र कहते है "यदन्नं पुरुषो भवतितदन्नं तस्य देवता।" मनुष्य जो वस्तु खाता है, उसका देवता भी उसी वस्तु को खाता है।" जाओ नहा धोकर चौका लगा कर, तुलसी दल डालकर भगवान् का भोग लगा कर पिया करो। प्रतीज्ञा करो भोग लगाये बिना कभी न पिऊँगा।" महात्मा जी पर उनकी श्रद्धा थी। प्रतिज्ञा करके चले गये।

वे राजकर्मचारी थे। अनेक स्थानों पर जाना पड़ता। कहीं चौका लगावें, कहाँ नहावें, कहीं तुलसी मिली कहीं नहीं मिली। कई-कई दिन बिना पिये ही जाते। एक दिन उन्हें बड़ी ग्लानि हुई "अरे, कैसी बुरी वस्तु का भगवान् को भोग लगाते हैं छोड़ें इसे।" बस, उस दिन से सदा के लिये उनकी सुरा छूट गयी।

महात्मा जी ने जो कहा था—"भोग लगाकर पिया करो।" इस पिया करो में विधि नहीं थी। आज्ञा नहीं थी। पीने का व्यसन लगाने में तात्पर्य नहीं था। निषेध में तात्पर्य था। उस पंडित ने

चोरी करी तो उससे उन्हें कोई मुक्ति नहीं मिल गयी, इहलौकिक लाभ हुआ। इसने भगवान् को सुरा भोग लगाई, तो भगवान् ने प्रसन्न होकर उसे वैकुंठ थोड़े ही दे दिया। उसका लौकिक व्यसन छूट गया। इसलिये निषिद्ध कर्म भी करने पड़ें तो शास्त्र उनका भी नियमन करता है। कर्तव्य कर्म, विधि विहित कर्मों की तो शास्त्र की आज्ञा ही है, किन्तु विहित कर्मों के करने से भी कोई मोक्ष थोड़े ही मिलेगी। दान, धर्म, तप, जप, यज्ञ याग ये विहित कर्म हैं कर्तव्य कर्म हैं, किन्तु इनका भी फल स्वर्ग ही है। अच्छे लोकों की प्राप्ति मात्र ही इन शुभ कर्मों से पुण्य कर्मों से भी मोक्ष थोड़े ही मिल सकती है। मोक्ष तो आसक्ति त्याग से ही संभव है। फिर चाहे वह आसक्ति पुण्य कर्मों की हो या पाप कर्मों की पुण्य कर्मों की आसक्ति रेशम का मुलायम बंधन है। पाप कर्मों की आसक्ति लोह का कड़ा बंधन है। अतः कर्तव्य कर्मों को ही आसक्ति रहित करते रहने का नाम निष्काम कर्मयोग है। अतः कर्तव्य बुद्धि से कर्मों को करते रहने में कोई दोष नहीं।"

इस पर पूछा जा सकता है—"की आप कर्म करते रहने पर ही बल क्यों देते हो। किसी की रुचि कर्म करने की नहीं हैं तो।" इस पर कहते है—"अरे, बाबा! हम कब कहते हैं शुकदेव जी को पकड़कर लाओ और उन्हें यज्ञयाग शुभ कर्मो में लगा ही दो। कोई अपवाद स्वरूप ऐसे वीतराग जन्म से ही त्यागी विरागी हैं, उनके लिये तो ज्ञान मार्ग संन्यास मार्ग-त्यागपंथ है ही किन्तु साधारणतया कर्म करे बिना कोई रह ही नही सकता अतः यज्ञ के निमित्त किये हुए आसक्ति रहित कर्म बधन का कारण न होकर मोक्ष के ही कारण है। अब शुकदेव जी को ही ले लीजिये। उन्होंने पैदा होते ही संन्यास धारण कर लिया, वन को चले गये। भिक्षा माँगने भी जाते तो किसी के घर उतनी ही देर

ठहरते, जितनी देर में एक गौ दुही जा सकती है। क्योंकि वे जानते थे, अधिक कर्म करने से ममता-आसक्ति हो जायगी आसक्ति ही बन्धन का हेतु है, किन्तु वे ही जब भागवत पढ़ने लगे तो १८ सहस्र श्लोक वाली भागवत को एक स्थान पर रह कर पढ़ गये। उन्होंने स्वयं राजा परीक्षित से कहा—हे राजर्षे यद्यपि मैं निर्गुण ब्रह्म में निष्ठावान् हूँ, किन्तु भगवान् की लीलाओं ने मेरा मन ऐसा आकर्षित कर लिया था, कि हठपूर्वक मुझे इस आख्यान को पढ़ना पड़ा। कारण कि विधि और निषेध दोनों प्रकार के कर्मों से परे रहने वाले, निस्त्रैगुण्यभाव में स्थित रहने वाले मुनिगण भी प्रायः करके भगवान् के गुणगान रूपी कर्म में रमण करते रहते है। भगवान् के गुणगान सुनते रहना दूसरों को सुनाते रहना। भगवान् पुण्यश्लोक की पुण्य लीलाओं को लिखते रहना उनका प्रचार प्रसार करते रहना यह ज्ञान यज्ञ है। ज्ञान यज्ञ रूपी कर्म में लगे रहने वाला कर्म जनित दोषों के लिप्त नहीं होता। ये कर्म बन्धन के कारण नहीं हैं। तभी तो गो दोहनमात्र समय तक ठहरने वाले शुकदेव जी राजा परीक्षित् की कथा सुनाने को ७ दिन तक उनके यहाँ ठहरे रहे। यदि वे किसी के विवाह तेरही में ठहरते तो बँध जाते, किन्तु वे तो ज्ञान यज्ञ में संलग्न रहे, वह भी निष्कामभाव से राजा से दक्षिणा लेने के लोभ से सुनाने में प्रवृत्त नही हुए अतः मुक्त संग होकर यज्ञार्थ किया हुआ कर्म बन्धन का कारण नही होता है।

सूत जी कहते है—मुनियो! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी अर्जुन को समझाते हुए कह रहे हैं जैसे संन्यास मार्गगामी कर्म योगी को केवल शरीर निर्वाह के लिये किया हुआ कर्म बन्धन का कारण नहीं होता, वैसे ही निष्काम, कर्म योगी के लिये यज्ञ के निमित्त

किया हुआ कर्म बन्धन का कारण नही होता। इसी बात को समझाते हुए कह रहे हैं।

भगवान् ने कहा—कर्म से ही प्राणी बंधता है किन्तु यज्ञ के निमित्त किये हुए कर्म से बन्धन नही होता।

अर्जुन ने कहा—"कर्म तो बंधन का कारण ही है, कर्म चाहे पुण्यकर्म हो या पाप कर्म। यज्ञ एक पुण्य कर्म है, उसके करने से भी आदमी बँधेगा ही।"

भगवान् ने कहा—"तुम ठीक कहते हो कौन्तेय! पाप कर्म से जैसे नरक होता है, वैसे ही पुण्यकर्म से स्वर्ग होता है, किन्तु यज्ञरूप पुण्य कर्म यदि स्वर्ग की इच्छा का परित्याग करके निष्काम भाव से मुक्त सङ्ग होकर किया जाय तो बन्धन का हेतु नहीं होता।"

अर्जुन ने कहा—"तो बन्धन का कारण आसक्ति ही हुई। अनासक्त भाव से कोई भी कार्य किया जाय, तो बधन का कारण नही होता, तब फिर यज्ञ करो इसी पर आप बल क्यों देते है। हमें कहते हैं, मुक्त संग होकर पाप कर्म करो वह भी बन्धन का कारण न होगा।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"देखो, भैया! मुक्ति के अधिकारी सभी नहीं होते। केवल मुमुक्षु ही मुक्ति का अधिकारी होगा। मुमुक्षु की पाप कर्मों में तो प्रवृत्ति होगी ही नहीं, उसकी स्वाभाविकी रुचि पुण्य कार्यों में होगी। और यज्ञ से बढ़कर कोई पुण्य कार्य नही। यदि आप मुक्त संग न होकर यज्ञ करेंगे, तो उससे आपको स्वर्गादिलोकों की ही प्राप्ति होगी। यदि मुक्त संग होकर यज्ञ करोगे तो स्वर्गादिलोक ही न मिलकर मुक्ति मिल जायगी।"

अर्जुन ने कहा—"अच्छा थोड़ी देर को मान लें, किसी ज्ञानी

की हिंसादि पाप कर्मों में प्रवृत्ति हो ही जाय, और वह अनासक्त भाव से कर्तृत्वाभिमान् शून्य होकर उन कर्मों में प्रवृत्त हो जाय, तो उसे पाप लगेगा कि नहीं।"

भगवान् ने कहा—"उसकी बुद्धि उस कर्म को पाप स्वीकार करले तो अवश्य पाप लगेगा।"

अर्जुन ने कहा—उसकी बुद्धि भी उस हिंसादि पाप कर्म में लिप्त न हो तब ?

हँसकर भगवान् बोले—अरे भाई, तब क्या, तब तो पाप पुण्य का प्रश्न ही नहीं बुद्धि ही तो यह पाप है, यह पुण्य है इसकी साक्षी है. जब उसमें कर्तृत्व अभिमान भी नहीं है, बुद्धि भी उसकी अनुलिप्त नहीं होती है, तो ऐसा पुरुष तो खड्ग लेकर एक ओर से प्राणियों का संहार करता चले तो भी वह बंधन में नहीं बँध सकता। भगवान् रुद्र तो प्रलयकाल में समस्त प्राणियों का संहार ही करते है, उन्हें कुछ पाप लगता है क्या ?

मुमुक्षु की स्वाभाविक प्रावृत्ति पुण्य कार्यों में होती है उनमे असक्ति न करे अनासक्त भाव से उन पुण्य कर्मों को करता जाय इसलिये मैं तुम्हे आज्ञा देता हूँ तुम यज्ञ के ही निमित्त मुक्त संग होकर कर्म करो।"

अर्जुन ने कहा—आप यह नई आज्ञा क्यों दे रहे है। यज्ञ के ही लिये ही आग्रह क्यों कर रहे हैं।

भगवान् ने कहा—मैं कोई भी नई बात नहीं कह रहा हूँ। मैं अपनी ओर से तुम्हें कोई आज्ञा नही दे रहा हूँ। समस्त प्रजाओं को रचने वाले तो प्रजापति भगवान् ब्रह्मा ही हैं न। वे ही समस्त प्रजा को रचते है, वे ही उन सब के लिये विधान बनाते है। जब उन्होंने कल्प के आदि में सृष्टि रचना की तो प्रजाओं के साथ ही साथ यज्ञ की भी रचना की। पहिले मानसी सृष्टि की। उससे

प्रजा की वृद्धि नहीं हुई, तब भगवान् की स्तुति की मनु शतरूपा दो जोड़ा हुए, उनके लिये स्थान चाहिये कर्म चाहिये। स्थान के लिये कर्म के लिये उनके ही शरीर से वराह रूप में भगवान् प्रकट हुए। वे भगवान् वराह ही यज्ञ स्वरूप हैं। उनके ही अंग से यज्ञ की सब विधियाँ, सब अंगोंपाङ्ग समस्त वस्तुएँ हुईं। वराह भगवान् वेदत्रयी रूप हैं, क्योंकि यज्ञ वेदत्रयी से ही सम्पन्न होते हैं। वराह भगवान् त्वचा में छन्द, रोमवली में कुशा, नेत्रों में घृत, चारों चरणों में होता, अध्वर्यु, उद्गाता, और ब्रह्मा थूथने में स्रुक, नासिका में स्रुवा, उदर में इडा, कानों में चमस, मुख में प्राशित्र, कन्ठ में ग्रह, भगवान् का चबाना ही मानों अग्नि होत्र है, अभिव्यक्ति ही दीक्षा, ग्रीवा उपसद (तीन इष्टियाँ) दोनो दाढ़े प्रायणीय और उदयनीय (दीक्षानन्तर इष्टि, यज्ञ समाप्ति इष्टि) जिह्वा प्रवर्ग्य कर्म (उपसद के पूर्व का महावीर कर्म) सिर (दोनो प्रकार की होमरहित और उपासना की अग्नि) सभ्य और आवसभ्य अग्नि सिर है। भगवान् का वीर्य ही सोम है। तीनों सवन आसन है। सातों धातुएँ रस, रक्त, मेदा मांस अस्थि, वीर्य, और ओज ये ही अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोयमि नाम की सात संस्थायें हैं। सन्धियाँ ही सत्र है। यज्ञ (सोम रहित यज्ञ) क्रतु (सोम सहित यज्ञ वराह का स्वरूप है।) यज्ञानुष्ठान ही वराह के अंगों की गठन है, इस प्रकार अखिल देवता, सभी क्रियायें, सभी द्रव्य, वैराग्य, भक्ति, आत्मानुभव तथा समस्त विद्याओं के स्वरूप वराह भगवान् है। ये वराह दूसरे कोई नहीं हैं। अर्जुन मैंने ही वराह रूप रखकर पृथ्वी का उद्धार किया था। इसीलिये यज्ञ मेरा ही स्वरूप है। "यज्ञो वैविष्णुः" वेद भी यज्ञ को मेरा स्वरूप मानता है। इसलिये जैसे समस्त सृष्टि ब्रह्मा जी से हुई वैसे

ही यज्ञ स्वरूप मे वराह भी ब्रह्मा जी से हुआ। ब्रह्मा मुझसे मेरे नाभि कमल से उत्पन्न हुआ। मैं ब्रह्मा जी की नाक से उत्पन्न हुआ। प्रजा को उत्पन्न करके ब्रह्मा जी ने ही सर्व प्रथम यज्ञ कर्म का विस्तार किया। यज्ञ करने के अनन्तर वे ब्राह्मणादि प्रजा के जनों से बोले—"सुनो भाइयो मेरी बात। जैसे मैंने यह यज्ञानुष्ठान किया है, वैसे ही तुम लोगभी इसी यज्ञ के द्वारा वृद्धि को प्राप्त करना।"

प्रजा के लोगों ने पूछा—प्रभो! यज्ञों में क्या होता है?

ब्रह्मा जी ने कहा—"यज्ञों में देवताओं का यजन पूजन होता है।"

प्रजा के लोगों ने पूछा—"तब भगवन्! इस यज्ञ से लाभ तो देवताओं का ही हुआ। हमको यज्ञ से क्या लाभ?"

ब्रह्मा जी बोले—"देखो, भाई! जैसे यह शतरूपा है न, यह मनु की गृह कामधेनु है। स्त्री से गृहस्थियों की सब कामनायें पूरी होती हैं। वे देवता, पितर तथा ऋषियों के ऋण से स्त्री की ही सहायता से उऋण होते हैं। वैसे ही यह यज्ञ तुम्हारे लिये इष्ट कामधेनु है। इसी के द्वारा तुम अपने इष्ट की प्राप्ति कर सकते हो। अपने ही समस्त अभीष्ट फलों की पूर्ति कर सकते हो। देवताओं की प्रसन्नता के लिये किया हुआ यह यज्ञ तुम्हारी सब कामनाओं की पूर्ति करेगा।"

प्रजा के जनों ने कहा—"भगवन्! यज्ञ के भाग को तो देवता प्राप्त कर लेंगे, हम सब लोग तो कोरे के कोरे ही रह जायँगे।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! प्रजाजनों की ऐसी बात सुनकर ब्रह्मा जी हँस पड़े। अब ब्रह्मा जी ने जैसे प्रजाजनों को समझाया उस प्रकरण को जैसे भगवान् वासुदेव अर्जुन से कहेंगे। उसका वर्णन मै आगे करूँगा।

छप्पय

यज्ञ कहा है सुनो, तुम्हें अबई बतलाऊँ।
यज्ञ कहाँ तैं भयो आदि सब वृत्त बताऊँ॥
कमलासन अज ब्रह्म प्रजापति जो कहलावैं।
यज्ञ सहित सब प्रजा रची उनतैं बतलावैं॥
वृद्धि प्राप्त सबई करो, तुम सब यज्ञ प्रभाव तैं।
यज्ञ भोग-इच्छित तुम्हें, देगो सहज स्वभाव तैं॥

परस्पर के सहयोग से ही कार्य सिद्ध होता है

[६]

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥*
(श्री भग० गी० ३ अ० ११, १२ श्लो०)

छप्पय

यज्ञ और सब प्रजा साथ ही जनमे तुम हो।
देवनि को मुख यज्ञ, यज्ञ तैं ही उन्नत हो॥
देवनि कूँ तुम करो यज्ञ तैं उन्नत भाई।
उन्नत तुमकूँ करैं देव हो उभय भलाई॥
दोऊ तुम निस्वार्थ है, रहो परस्पर भावमय।
होइ परम कल्यान तब, उन्नत होंगे तुम उभय॥

* ब्रह्मा जी ने कहा—यज्ञ करके तुम देवताओं को बढ़ाओ और यज्ञ से उन्नत देवतागण तुम्हारी वृद्धि करें। इस प्रकार तुम लोग परस्पर मे एक दूसरे की उन्नति करते हुए परम श्रेय को प्राप्त होगे॥११॥

यह संसार परस्पर के सहयोग से चल रहा है। पृथ्वी अकेली कुछ नहीं कर सकती, जब तक कि उसमें जल, तेज, वायु और आकाश का सहयोग प्राप्त न हो, खाली जल पृथ्वी, तेज, वायु और आकाश के विना टिक नहीं सकता। भवन में जब तक ईंट गारा, सहयोग न करेंगे तब तक वह खडा रह ही नहीं सकता। बच्चे के पालन पोषण में माता पितादि सहयोग न करें, तो वह रह नहीं सकता। शरीर की समस्त इन्द्रियाँ, समस्त अंग परस्पर में सहयोग देना छोड़ दें, तो शरीर एक क्षण भी स्थिर नहीं रह सकता। संसार सहयोग की नीव पर ही अवस्थित है। संसार का एक भी पदार्थ, एक द्रव्य, एक भी कर्म सहयोग के विना अपने काम को करने में समर्थ नहीं। सन्तानें माता-पिता के सहयोग से ही होती हैं। सहयोग का ही नाम संसार है।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो ! भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी अर्जुन से कह रहे है—"अर्जुन ! जब ब्रह्माजी ने प्रजा के जनों से कहा कि तुम यज्ञ कर्म द्वारा देवताओं के सहयोग से काम चलाओ। तव प्रजाजनों ने पूछा—देवता तो हमारा दिया हुआ यज्ञ भाग खा जायँगे। हमें उन्हें तृप्त करने से क्या लाभ ?

इस पर ब्रह्मा जी ने कहा—"देखो, भैया ! हविर्भाग को तुम देवताओं के मुख में डालोगे तो देवता भी तुम्हें तृप्त करेंगे।"

प्रजा के लोगों ने कहा—"भगवन् ! देवता तो हमें दृष्टि गोचर होते नहीं। उनका मुख तो हमें दीखता नहीं। फिर उनके मुख में हम हविष्य कैसे डालें ?"

यज्ञ के द्वारा प्रवृद्ध हुए देवतागण तुम्हें इच्छित भोगों को देंगे। जो पुरुष उन देवताओं द्वारा दत्त भोगों को उनको बिना अर्पण किये खाता है, वह तो चोर है ॥१२॥

ब्रह्मा जी ने कहा—"देवतओं का मुख अग्नि है। अग्नि के द्वारा ही वे अपने भाग को ग्रहण करते हैं, तुम जिस देवता के उद्देश्य से अग्नि में आहुति दोगे, वही देता उससे तुरन्त ग्रहण कर लेगा।"

प्रजाजन—इससे हमारा श्रेय क्या होगा ?

ब्रह्मा जी—"अरे, तुम अग्नि द्वारा उन्हें तृप्त करोगे, तो वे भी तुम्हारी कामनाग्नि, जठराग्नि आदि को शान्त करेंगे। तुम उन्हें तृप्त करोगे, वे तुम्हें तृप्त करेंगे। इस प्रकार परस्पर के सहयोग से परम श्रेय जो मोक्ष है, उसको तुम प्राप्त हो जाओगे।"

प्रजा के लोगों ने पूछा—"यदि हम देवताओं का यजन न करें, उनके भाग न दें तब क्या होगा ?"

ब्रह्मा जी ने कहा—"तब तुम्हें चोरी का पाप लगेगा।"

प्रजाजनों ने पूछा—"चोरी का पाप कैसे लगेगा महाराज! हम देवताओं की कौन सी वस्तु चुराने गये ?"

ब्रह्मा जी ने कहा—पहिले यह समझो चोरी कहते किसे हैं ?

प्रजा के लोगों ने कहा—"किसी की वस्तु हो, उससे बिना पूछे उसकी बिना अनुमति लिये हुए उस वस्तु का उपयोग स्वयं ही कर लेने को चोरी कहते है।"

ब्रह्मा जी ने कहा—"हाँ ठीक है, अच्छा तुम जो अन्न खाते हो, वह कहाँ से आता है ?"

प्रजा जन—"उसे तो हम अपने पुरुषार्थ से पृथ्वी से उत्पन्न करते हैं।"

ब्रह्मा जी—"यदि पृथ्वी पर इन्द्र वर्षा न करें तो अन्न कैसे उत्पन्न होगा ?"

प्रजाजन—"हम नदियों से-कुओं में से-पानी दे लेंगे।"

ब्रह्मा—कहीं से ले लो जल तो चाहिये। जल के अधिष्ठातृ देव वरुण हैं, वर्षा के अधिष्ठातृ देव इन्द्र हैं। प्रकाश के अधिष्ठातृ देव सूर्य है, प्राण के अधिष्ठातृ देव वायु हैं। पृथ्वी न हो, जल की वर्षा न हो, प्रकाश न हो, वायु न चले, तो अन्नादि कैसे उत्पन्न हो सकते हैं। अतः जो उत्पन्न करता है, उसका स्वामी तो उत्पन्न करने वाला ही माना जायगा। आप देवताओं द्वारा उत्पन्न की हुई वस्तुओं को देवताओं को दिये बिना, उनकी अनुमति लिये बिना, उनका यजन-याजन पूजन किये बिना, उनका भोग लगाये बिना खालोगे तो चोरी नहीं हुई तो क्या हुआ। चोर की जो दशा होती है, बन्धन में डाल दिया जाता है, वही दशा तुम्हारी होगी। तुम बन्धन में डाल दिये जाओगे। खाने के लिये तो कारागार में बन्दियों को भी दिया ही जाता है, पेट तो चोरों का भी भरता ही है, किन्तु उनकी इस वृत्ति की प्रशंसा नहीं। वे स्वतन्त्रता के–मुक्ति के–अधिकारी नहीं। उन्हें बार-बार बन्धन में पड़ना पड़ेगा। इसी प्रकार यज्ञों द्वारा संतुष्ट हुए देवतागण उल्लास के सहित इष्ट भोगों को प्रदान करेंगे। तुम्हें दूध के लिये पशु, खाने को अन्न, गृह के कामों को सम्पन्न करने वाली, तथा सन्तान उत्पन्न करने वाली गृहिणी, पुत्र, पौत्र, धन धान्य आदि वस्तुओं को देंगे। उनकी दी हुई वस्तुओं का उन्हें बिना दिये हुए–बिना भोग लगाये हुए–तुम उपयोग करोगे, तो चोर न हुए तो कौन हुए। चोरी का दन्ड तुम्हें यही मिलेगा कि तुम्हारा संसार बन्धन नहीं छूटेगा जन्म मरण के चौरासी के चक्कर में फँसे ही रहोगे।"

प्रजाजनों ने कहा—"हम पैदा करके सब देवताओं को ही खिला देंगे, तब तो हम भूखे ही मर जायँगे।"

ब्रह्मा जी ने कहा—अरे, यह बात नहीं है। देवता तो भावना

के भूखे होते है, वे मुख मे बहुत नहीं खाते। नासिका से सूँघकर ही तृप्त हो जाते हैं। उनका सत्कार करो पूजन करो। जितना पैदा करो सबके सब को स्वाहा कर देने को कौन कहता है। यज्ञ करके अवशिष्ट बच जाय, उसे प्रभु प्रसाद समझ कर भक्षण करो। जो कुछ पाक तैयार करो उन्हीं के निमित्त से करो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इसका पूरा विवेचन जो ब्रह्मा जी प्रजा के जनों से करेंगे। उसे मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

जिनि देवनि कूँ सदा यज्ञ तैं तुष्ट करो तुम।
बिनु माँगे ही देइँ भोग इच्छित वे उत्तम॥
उन भोगनि कूँ देवनि को परसाद समुझिकैं।
भोगो उनकूँ अरपि यज्ञ कूँ नित-नित करिकैं॥
यज्ञ-भाव-भावित अमर, देहिँ भोग हरपित रहैं।
बिना दिये भोगे स्वयं, ताहि चोर ऋषि मुनि कहैं॥

बिना यज्ञ किये जो खाता है वह पाप को ही खाता है

[७]

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म समुद्भवः ॥*

(श्री भग० गी० ३ अ० १३, १४ श्लोक)

छप्पय

यज्ञ देव हित करें हिये में जो हरपावें ।
यज्ञ-शेष जो बचै अन्न ताही कूँ खावें ॥
ते अति उत्तम पुरुष होहिँ निष्पाप निरन्तर ।
यज्ञ-शेष है अमृत पुण्यप्रद अति ही सुखकर ॥
स्वारथ-रत पापी पुरुष, उदर निमित्त पकात हैं ।
अन्न खायँ नहिँ ते अधम, पाप-पाप ही खात हैं ॥

---

* जो यज्ञ से बचे अन्न को खाने वाले पुरुष हैं, वे सभी पापों से छूट जाते हैं, और जो पापी पुरुष अपने पेट के ही निमित्त पका कर खा लेते हैं, वे तो मानों साक्षात् पाप को ही खाते हैं ॥१३॥

अन्न से ही सभी प्राणी पैदा होते हैं, अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से

यह सृष्टि चक्र ऐसे ही नही चल रहा है, इसे कोई चला रहा है और सुव्यवस्थित ढँग से चला रहा है। जो बद्ध जीव है, बुद्धि पूर्वक वैदिक तांत्रिक कर्मों को–यज्ञानुष्ठानों को–कर नहीं सकते, केवल आहार निद्रा मैथुनादि को ही अपने जीवन का लक्ष्य माने बैठे हैं, ऐसे लोगों के लिये शास्त्रोपदेश नहीं है। जिन्हे मुक्ति की इच्छा है—जिनकी सन्तुष्टि इन संसारी भोगों से नही होती। जो ससारी भोगो के अतिरिक्त भी दिव्य सुख-परम-शान्ति चाहते हैं। शास्त्र उन्ही सुपात्रों के लिये है और वे ही शास्त्र के उपदेशों को सुनने के पात्र हैं। ब्रह्मा जी ने यज्ञ के साथ ही साथ प्रजा को उत्पन्न किया। यज्ञ और प्रजा सगे भाई-भाई है। प्रजा के लोग दो भागों में विभक्त है। वर्णाश्रमी और अवर्णाश्रमी। अवर्णाश्रमियों में वर्ण व्यवस्था नहीं, वैदिक कर्मकान्ड नहीं। वर्णाश्रमियों में भी चार वर्ण हैं, ब्राह्मण वर्ण, जिनका काम ही है यज्ञ याग, पूजा पाठ करना। दूसरा क्षत्रिय-प्रजा के लोगों को चोर डाकू आदि दस्युओं के भय से बचाना, विपक्षियों को युद्ध में हराकर धर्म का प्रचार-प्रसार करना। तीसरे वैश्यों का कार्य यह है कि अन्नादि दुग्धादि पैदा करके उसे प्रजाजनों में वितरित करना, चौथे शूद्रों का काम यह है कि इन तीनों वर्णों के लोगों की श्रद्धा पूर्वक सेवा करते रहना। इनको सेवा के अतिरिक्त और किसी शास्त्रीय कर्म कलाप की स्वतन्त्र रूप में आवश्यकता नहीं क्योंकि सेवा धर्म ऐसा महान् धर्म है कि जिन की सेवा करते हैं उनके कुछ सुकृत उन्हें स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं, इसी प्रकार स्त्रियों को भी किसी कर्मकान्ड के स्वतन्त्र रूप में करने की आवश्यकता नहीं। स्त्री

होती है तथा वृष्टि होती है यज्ञ से और यज्ञ कर्म से ही उत्पन्न होता है ॥१४॥

तो पुरुष की अर्धाङ्गिनी है न ? उसे पुरुष के किये हुए कर्मकांड का स्वत: ही आधा भाग मिल जायगा। इनके अतिरिक्त जो तीन वर्ण वाले-विप्र, क्षत्रिय, वैश्य-है उनकी द्विज संज्ञा है। वैदिक कर्मकाण्ड की परम्परा को निभाना उनका प्रधान कर्तव्य माना गया है। अत: ये यज्ञधिकारी है, इन्हें सदा सर्वदा यज्ञ का उपवीत धारण किये रहना चाहिये। यज्ञ क्यों करना चाहिये ? क्योंकि यज्ञ प्रजाजनों का सहोदर है, ब्रह्मा जी ने प्रजा और यज्ञ को साथ उत्पन्न किया। हिंसा न करना यही परम धर्म है। किन्तु बहुत-सी ऐसी हिंसायें हैं कि उनके किये बिना शरीर निर्वाह ही नही हो सकता। वे आवश्यक हो जाती हैं। पहिले सभी लोग जीवनोपयोगी सभी आवश्यक कर्म अपने आप अपने घरों में ही करते थे। जैसे भोजन बनाना भोजनोपयोगी सामान को तैयार करना, जल कुए से या नदी से लाना। घर को स्वयं स्वच्छ रखना। इनमें छोटे-मोटे जीवों की हिंसा हो जाना अनिवार्य है। धान कूटते समय, अन्न पीसने को चक्की चलाते समय, भोजन बनाने को चूल्हे में अग्नि जलाते समय या दीपक जलाते समय, जल रखते समय, झाड़ू लगाते या लीपते समय ये पाँच अपराध तो अनिवार्य से हो हैं, इनमें जाने में अनजाने में हिंसा हो ही जाती है। इन पाँचों पापों के परिहार्थ शास्त्रों ने पंच महायज्ञ प्रत्येक द्विज के घर मे अनिवार्य बताये हैं। उन पाँचों यज्ञों के नाम हैं-(१) ब्रह्मयज्ञ (२) देवयज्ञ (३) भूतयज्ञ। (४) पितृयज्ञ और (५) मनुष्य यज्ञ। ब्रह्मयज्ञ का अर्थ है स्वाध्याय यज्ञ। नित्य के स्वाध्याय से ऋषिगण तृप्त होते हैं। नित्य वेद पुराण उपनिषदादि का स्वाध्याय या मंत्र जप करना चाहिये। देवयज्ञ उसे कहते हैं जो देवताओं के निमित्त नित्य अग्नि में हवन किया जाय। धाता विधाता तथा सभी भूतों की तृप्ति के लिये

भोज्य पदार्थ अर्पण करना। पितरों के निमित्त अन्न देने को पितृ यज्ञ कहते हैं। तथा सनकादि महर्षियों और मनुष्य रूप में कोई अतिथि आ जाय, उन्हें अन्न अर्पण करना। ब्रह्मयज्ञ को छोड़कर ये चारों वैश्व देव यज्ञ कहाते है। इनके अतिरिक्त गौ, कुत्ता, कौआ, देवतादि और चींटी आदि जीवों को अन्न की बलि देनी चाहिये। ये सब कर्म मिलाकर बलि वैश्य देव यज्ञ कहाते हैं। इस यज्ञ को प्रतिदिन सृष्टि के क्रम को अक्षुण्ण बनाये रखने को करते रहना चाहिये।

आप पूछेंगे कि इन कर्मों से और सृष्टि के वर्मों से क्या सम्बन्ध ? तो इसका उत्तर यही है, कि संसार परस्पर की सहानुभूति कृतज्ञता से ही चल रहा है। सभी प्राणी देवताओं के पितरों के, ऋषियों के, मनुष्यों के, कुटुम्बियों के तथा समस्त चराचर प्राणियों के ऋणी हैं। अतः हमें सबको यथा शक्ति बलि देनी चाहिये, अग्नि में हवन करना चाहिये तथा देवता, ऋषि, मनुष्य, पितर तथा सभी प्राणियों के नाम से तर्पण करना चाहिये। जो पाक बनावे वह अपने ही लिये न बनावे। पाक बनाकर वैश्व देव यज्ञ करे, कोई अतिथि आ जाय, तो उसे भोजन करा के उनका जो अवशिष्ट–बचा अन्न हो उसे पार्व–यज्ञ से बचे अन्न को 'अमृत' कहते हैं, अतिथि को भोजन कराने के अनंतर जो बचता है उसे 'विघस' कहते हैं। इसीलिये शास्त्रकार कहते हैं, गृहस्थ को "अमृताशी तथा विघसाशी होना चाहिये। जिनका हमारे ऊपर ऋण है, जिन्होंने ने हमारे ऊपर उपकार किये हैं, उनके ऋण को न चुकाना, उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट न करना यह तो अन्याय है, पाप है, कृतघ्नता है। इसलिये कृतघ्नता के पाप से बचने के लिये यज्ञ करना आवश्यक है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी

अर्जुन से कह रहे हैं—अर्जुन ! मनुष्य में और पशुपक्षियों में अन्तर इतना ही है, कि पशु-पक्षी आदि बद्ध जीव केवल पेट भरने को ही जीते हैं। चींटी रात्रि दिन भोजन की चिंता में ही घूमती रहती है, पशु-पक्षी अज्ञानी जीव भोज्य पदार्थ आते ही भक्षण करने लगते हैं। किन्तु मुमुक्षु जीव भोज्य सामग्री सम्मुख आते ही उस परम पिता परमात्मा सबको देने वाले के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते है। यज्ञ के द्वारा वैश्व देवादि को आहुति देते हैं, सब प्राणियों का भाग निकाल कर यज्ञ से वचे हुए अमृत तुल्य अन्न को प्रसाद समझकर पाते हैं।

अर्जुन ने पूछा—इससे क्या होता है, भगवन् !

भगवन् ने कहा—अन्नादि सब में कुछ न कुछ पाप का अंश रहता है; कर्मों में भी पाप हो जाता है, मनुष्य कितना भी बचावे उससे भी कुछ न कुछ पाप हो ही जाता है। इन सभी पापों से वही मनुष्य छूटता है, जो यज्ञ से तथा अतिथि सत्कार से वचे हुए अन्न को खाता है।

अर्जुन पूछा—"यदि वह यज्ञ किये विना ही ताजी-ताजी बनती जायँ और तुरन्त खाता जाय, तो उसका क्या होगा ?"

भगवान् ने कहा—होगा क्या ? वह अन्न थोड़े ही खाता है, वह तो साक्षात् पाप को ही खाता है। अपने ही निमित्त पाक करने वाला तो पापी है क्योंकि जिस अन्न को वह पकाता है या विना अर्पण किये हुए अन्न को खाता है, वह चोरी करता है, क्योंकि उस अन्न में देवतादिकों का भी तो भाग है। दूसरों के भाग को अकेले ही अकेले खा जाना पाप नहीं है क्या ?

अर्जुन ने पूछा—"अन्न में देवतादिकों का भाग कैसे है ?"

भगवान् ने कहा—"अच्छा, पहिले इसी पर विचार करो यह अन्न होता कैसे हैं ? यह अन्न पानी से उत्पन्न होता है, पानी

न हो तो अन्न उत्पन्न न हो, केवल पानी से भी नहीं हो सकता, जब तक प्रकाश न हो। पृथ्वी चाहिये वायु चाहिये प्रकाश चाहिये आकाश चाहिये ये सब तो निर्जीव हैं। जीवन के बिना प्राणियों की स्थिति नहीं, इसलिये जल को जीवन कहा है। जल इसमें मुख्य है। इसीलिये जल को वीर्य भी कहा है। अन्न गेहूँ, जौ, चना, चावल आदि को ही नहीं कहते। जो वस्तुएँ खायी पीयी जाती हैं वे सभी अन्न कहलाती हैं। यह अन्न होता है पानी से। पानी हमें पर्जन्य अर्थात् वृष्टि से मिलता है। वृष्टि के बिना पानी कहाँ से आवे। वृष्टि मेघ करते है उन मेघों के स्वामी इन्द्र हैं। इन्द्र कृपा न करें तो वर्षा होगी ही नहीं। ये मेघ बनते हैं धूम्र से। जैसा धूम्र होगा, वैसे ही मेघ बनेंगे। यदि मंत्रों के द्वारा विशुद्ध सामग्रियों की आहुति से जो यज्ञ धूम्र होगा, उससे शुद्ध पवित्र पुण्यमय मेघ बनेंगे। यदि भोजन बनाने वाली साधारण अग्नि के धूम से, या कोयला आदि के दुर्गन्धमय धूम से मेघ बनेंगे तो पापमय मेघ होगे। ये पुण्यात्मा पापात्मा जीव आकाश में जलमय बन जाते है। स्वर्ग से भी जो जीव ढकेल दिये जाते है वे भी आकाश में मेघमंडलों में घूमते रहते हैं। ऐसे ही नारकीय पापी जीव भी। जब वृष्टि होती है, तो जलमय होकर वे जीव भी बरसते हैं, और औषधियों को-अन्नों को- जीवनदान देते हैं। 'बीज' उस जीवनमय जल के सहारे वृद्धि को प्राप्त होते हैं। कर्मानुसार पूर्व जन्मों के प्रारब्धानुसार प्राणी उन-उन अन्नों को-औषधियों को खाते हैं। उनसे स्त्रियों के रज नाम की धातु बनती है, पुरुषों की वीर्य नामक धातु बनती है। प्रारब्धानुसार-संयोग संस्कारानुसार-दोनों का परस्पर में संयोग होने से समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। इसलिये सभी प्राणी जिस अपने-अपने आहार को खाते हैं, उसी का नाम अन्न है।

उसी अन्न से भूतमात्र की उत्पत्ति है। वह अन्न मेघों द्वारा–पर्जन्य द्वारा जल से ही पैदा होता है। वे विशुद्ध पर्जन्य–मेघ–यज्ञ धूम द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। साधारण धूम से अशुद्ध पर्जन्य। अतः अन्नोत्पत्ति में प्रधान कारण यज्ञ ही हुआ, अतः प्रजाजनों का यज्ञ अवश्य करना चाहिये। जो यज्ञ नहीं करता, कर्ममार्ग को छोड़ देता है, वह पापी है, कृतघ्नी है, संसार को विनाश की ओर ले जाने वाला है। इसलिये यज्ञ आवश्यक है, परम कर्तव्य है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! इस प्रकार भगवान् ने कर्मकांड को आवश्यक कर्तव्य बताकर नित्य यज्ञ करने का उपदेश दिया। अब आगे वे धर्म नाम के अपूर्वरूप यज्ञ कर्म की उत्पत्ति कारण जैसे बतावेंगे। उस प्रकरण को मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

अन्नहि तैं उत्पन्न होहिँ ये सबरे प्रानी।
अन्न होहि उतपन्न तवहिँ जब बरसे पानी॥
पानी विनु नहिँ होहिं अन्न तुमः निश्चय जानो।
जल ही जीवन कह्यो भुवन बन नीरहिँ मानो॥
वृष्टि यज्ञ तैं होति है, यज्ञ करम उतपन्न हैं।
विहित करम विनु होहिँ नहिँ, यज्ञ याग सम्पन्न हैं॥

अभु प्रवृत्त चक्र का अनुवर्तन न करने वाला पापी है

[८]

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥*

(श्री भग०गी० ३ अ० १५, १६ श्लो०)

छप्पय

वेदनि ने ही करे करम प्रकटित मुनि गावें ।
वेद एक आधार ज्ञान भंडार कहावें ॥
अविनाशी जो ब्रह्म वेद तिनि स्वयं बनाये ।
नहीं पुरुष कृत वेद ब्रह्म अक्षर प्रकटाये ॥
ब्रह्म वेद के बाप हैं, करम वेद संभव कहे ।
यज्ञ कर्म तें होत हैं, ब्रह्म यज्ञ में नित रहे ॥

---

* फिर कर्म होता है ब्रह्म-वेद-से और वेद को तू अक्षर ब्रह्म से उत्पन्न हुआ जान । इसीलिये सर्वगत जो ब्रह्म है, वह नित्य यज्ञ में प्रतिष्ठित है ॥१५॥

हे अर्जुन ! इस प्रकार सृष्टि चक्र चलता रहता है, जो पुरुष इसका अनुवर्तन नहीं करता, वह इन्द्रियाराम पापी पुरुष इस लोक में व्यर्थ ही जीता है ॥१६॥

संसार की प्रत्येक वस्तु पाप और पुण्य से पूरित है, कोई आदमी ऐसा नहीं जिससे केवल पाप ही पाप या पुण्य ही पुण्य बनता हो। कुछ न कुछ जाने अनजाने में पाप पुण्य सभी से होते हैं, कोई ऐसा कर्म नहीं जिसमें पाप पुण्य दोनों सम्मिलित न रहते हों। कोई क्रिया ऐसी नहीं है जो पाप पुण्य से रहित हो। पाप और पुण्य से ही यह संसार चक्र चल रहा है। जैसे दो पहियों के बिना गाड़ी भली-भाँति चल नहीं सकती, इसी प्रकार धर्म अधर्म, पुण्य पाप, अच्छा बुरा ये दो संसार रूपी गाडी के चक्र हैं। इस संसार चक्र से छूट जाना पृथक् हो जाना, मुक्त हो जाना इसी का नाम परम पुरुषार्थ है। जो पुरुष इस परम पुरुषार्थ के लिये सतत प्रयत्न करता रहता है, उसी का जीवन तो अमोघ है सार्थक है, जो इसके लिये प्रयत्नशील नहीं है उसी का जीवन मोघ है व्यर्थ है। नदी के प्रवाह में बहती हुई लकडी किनारे लग जाय, उसका बहना बन्द हो जाय, वही किसी काम की है, जो बहती ही गयी, बहती ही गयी, वह किसी के क्या काम की। यह संसार चक्र यज्ञमय है। यज्ञ करके जो खाता है, वह तो अमृत को खाता है, वह जन्म मृत्यु से छूट जायगा। जो यज्ञ किये बिना ही खाता है, वह अन्न थोड़े ही खाता है, पाप को खाता है, सजीव कीड़ों का भक्षण करता है। इस सम्बन्ध में एक कथा है।

एक परम श्रद्धालु भक्त था, वह बडी ही श्रद्धा भक्ति से समागत साधु-संत अतिथि-अभ्यागतों की सेवा किया करता था। जो साधु-संत अतिथि-अभ्यागतों की सेवा करते है, उनका नाम पुण्य प्रभाव से दूर-दूर फैल जाता है। जितनी अधिक कीर्ति अन्न दान से होती है, उतनी किसी भी दान से नही होती। उस अतिथि सत्कार करने वाले के यहाँ सदा १०१५ साधु-संत अतिथि बराबर आते ही रहते थे।

एक दिन एक साधु आये। गृहस्थी ने पूछा—"भगवन्! बना बनाया प्रसाद पावेंगे या स्वयं पाक करेंगे?"

साधु ने कहा—"मैं तो स्वयं पाक करूंगा।"

गृहस्थी ने कहा—"क्या बनाइयेगा?"

साधु ने कहा—"अधिक झंझट करके आपको कष्ट देना नहीं चाहता। केवल खीर बना लूँगा। दस सेर दूध मंगा दीजिये।"

"साधु ने जो-जो भी सामग्री माँगी गृहस्थी ने उससे अधिक ही दे दी, कि संभव है समय पर कोई दूसरा अतिथि आ जाय, तो उसका सत्कार भी इसी के द्वारा हो जायगा। उस साधु ने अपने ही निमित्त जिह्वा स्वाद के निमित्त बहुत रचपच के अघोटा दूध की सुन्दर खीर बनायी। खीर बनकर तैयार हो गयी। बड़े थाल में ठंडी होने के लिये उसने परोस ली। उसी समय एक दूसरे महात्मा आ गये। अब इस साधु के पेट में खलबली मच गयी। हाय! मैंने तो केवल अपने ही निमित्त खीर बनायी थी, अब यह दूसरा साधु आ गया। इसे भी खीर देनी पड़ेगी। किसी प्रकार इस साधु को यहाँ से टरकाना चाहिये।" यह सोचकर वह उन नवागत महात्मा के समीप गया और बोला—"अजी, महात्मा जी! आप यहाँ कहाँ आ गये। यह तो ऐसे ही सट्ट-पट्ट गृहस्थ है। यहाँ से थोड़ी ही दूर अमुक गाँव में एक बड़ा अच्छा सद्गृहस्थ है। वहाँ आप चले जायें, वहाँ बहुत अच्छे माल मिलेंगे। शीघ्र ही जायें, नहीं, वहाँ भी भोजन चुक जायगा।"

महात्मा सिद्ध थे, उन्होंने परात में परसी खीर देख ली थी। वे समझ गये यह साधु स्वयं ही अपने आप सब खीर को खाना चाहता है। इसे भोग लगाकर अतिथि-अभ्यागतों को देना नहीं चाहता। उन्होंने कहा—"अच्छी बात है हम आगे ही चले जायेंगे।" यह कहकर वे अपना झोली डंठा उठाकर चल दिये।

वह साधु शीघ्रता से चौका में आया। उसने सोचा—शीघ्रता से खीर को खालूं, नहीं फिर कोई दूसरा साधु आ जायगा।" यह सोचकर वह थाल को देखने लगा। थाल ठंडा तो हो गया था, किन्तु उसने देखा, जितने चावल है, वे कीड़े की भाँति रेंग रहे हैं। थाल में उसे सफेद कीड़े ही कीड़े दिखायी दिये। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। वह समझ गया। ये जो महात्मा आये थे, कोई सिद्ध पुरुष थे। मेरे ऊपर कृपा करके-मुझे उपदेश देने को-उन्होंने यह लीला दिखायी है।

वह दौड़कर महात्मा जी के समीप गया और दूर जाकर उन्हें रोका। साष्टांग प्रणाम करके उसने कहा—"प्रभो! मेरा अपराध क्षमा किया जाय, मै बड़ा पापी हूँ। मैंने आपको लोभवश झूठा बहाना करके टरका दिया। मेरे ऊपर कृपा कीजिये।"

महात्मा ने हंसकर पूछा—"क्या बात है?"

साधु ने कहा—"महाराज, खीर के चावल तो कीड़े हो गये हैं।"

महात्मा ने कहा—"अजी, आप कैसी बात कर रहे हैं। साधु लोग तो भगवान् के भोग के निमित्त ही पाक करते है। भोग लगाये बिना वे पाते ही नहीं। भगवान् के भोग में कोड़े कैसे हो सकते हैं। आपने उसमें तुलसी दल छोड़ा कि नहीं?'

साधु ने कहा—"तुलसी दल तो नहीं छोड़ा महाराज!"

महात्मा बोले—"तुलसी छोड़े बिना प्रसाद कैसे हो सकता है।" अपने सालिगराम के बटुए में से तुलसी निकालकर कहा—"लो, इस तुलसी को छोड दो।"

साधु ने पैरों पर पड़कर कहा—"प्रभो! आप भी पधारो।"

महात्मा तो दयालु होते ही हैं, साधु के साथ-साथ चले आये। तुलसी दल के डालते ही खीर में एक भी कीड़ा दिखायी नहीं

दिया। साधु—ने पहिले श्रद्धा पूर्वक उन साधु को तृप्ति पूर्वक जिमाया। फिर जो बचा उसमें से गृहस्थी को उसके बच्चों को बाँट कर शेष अमृत तुल्य उस खीर को स्वयं पाया। देवताओं को अर्पण करने के अनन्तर जो बचता है वह अमृत है जो अपने ही लिये पकाया जाता है, वह देखने में अन्न भले ही लगे वह तो साक्षात् पाप है। इसीलिए वैश्य देव यज्ञ में अयज्ञीय अन्न जैसे उडद, चना, मसूर, मटर, तेल में पके, मक्का, जुनरी आदि अन्न, बासी अन्न, खाने के पश्चात् बचा हुआ अन्न आदि निषेध है। इनमें पुण्य की मात्रा कम पाप की मात्रा अधिक होती है। पाप पुण्य भावना ही पर तो निर्भर है। चावल है बना कर दो चार दिन रख दो। सड़कर कीड़े पड़ जायँगे। वे कीड़े बाहर से थोड़े ही आ गये। चावल के ही कीड़े बन गये। क्योंकि उनका सदुपयोग नहीं किया। देवता पितर अतिथियों को तुरन्त अर्पण नहीं किया गया। प्रत्यक्ष पाप रूप होकर कोड़े रूप में प्रकट हो गये।

सुकर्म यज्ञादि वेद से प्रमाणित होता है, कि यह सुकर्म है, यह कुकर्म है। वेद में कहा है—मनुष्य जो अन्न खाता है, वह उसका साधारण अन्न है, जो पुरुष इसे अकेला ही सेवन करता है, वह पाप से छुटकारा नहीं पाता। क्योंकि वह उसका और देवताओं का मिला जुला अन्न है। जो अज्ञानी पुरुष पापमय अन्न ग्रहण करता है, सच कहता हूँ, वह उसका वध ही है। वह अन्न न तो अर्यमा का पोषण करता है, और न मित्र का, अकेला भोजन करने वाला तो केवल पापी ही होता है।" इसीलिये वेद की आज्ञा को मान कर वेदोक्त यज्ञों में ही प्रवृत्त होना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने विहित कर्मों के अनुष्ठान-यज्ञकर्म-करने के लिये अर्जुन को आज्ञा दी तब

अर्जुन ने पूछा—प्रभो ! यज्ञ कर्म पर ही आप इतना बल क्यों देते हैं ?"

भगवान् ने कहा—भाई धर्माधर्म का निर्णय करने वाला तो वेद ही है। वैसे तो संसार मे पाखन्ड शास्त्र बहुत हैं, किन्तु अपूर्व का साधन करने वाला वेद विहित कर्म ही है। इसलिये कार्य अकार्य में वेद ही प्रमाण है।"

अर्जुन ने पूछा—"वेद ही प्रमाण क्यों है ?

भगवान् ने कहा—इसलिये कि वह अपौरुषेय है। किसी पुरुष ने वेद को नहीं बनाया। जिस परमात्मा को अक्षर ब्रह्म कहते हैं। जिसका कभी क्षर नाश नहीं होता वही अक्षर है। अतः वेदों को प्रमाणित करने के लिये किसी अन्य शास्त्र की आवश्यकता नहीं। वह तो स्वतः प्रमाण है। श्रुति में भी कहा है—"ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरसवेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद श्लोक ग्रंथ, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान ये सब परमात्मा के निःश्वास हैं। इसलिये वेदों का वचन प्रमाण है। वेदों की छियानवे हजार ऋचाएं यज्ञों का ही प्रतिपादन कर रही हैं अतः वेद यज्ञ में प्रतिष्ठित है। इसलिये वेद विहित यज्ञों को करते ही रहना चाहिये।

अर्जुन ने पूछा—"यदि कोई वैदिक यज्ञों का अधिकारी और समर्थ होने पर भी यज्ञ नहीं करता तो उसे क्या दोष लगता है ? क्या वह परमार्थ पथ का अधिकारी नहीं हो सकता ?"

भगवान् ने कहा—"अरे, परमार्थ मोक्ष की बात छोडो, वह तो पुण्यात्माओं के स्वर्गादि लोकों का अधिकारी नहीं हो सकता। वह तो पाप मय जीवन बिताने वाला है। क्योंकि यज्ञ कर्म न करेगा, तो उसे सदा सर्वदा अपनी इंद्रियों की तृप्ति की ही चिन्ता लगी रहेगी। आज यह साग बने, आज यह पदार्थ

तैयार हो, आज ऐसा भवन बनाओ जिसमें गरमी में गरमी न लगे जाड़ों में जाड़ा न लगे। आज ऐसा वाहन लाओ जिसमें शरीर में तनिक भी कष्ट न हो। साराश वह सदा शरीर सुख जिनसे मिले ऐसे द्रव्यादि की चिन्ता में मग्न रहेगा उस इन्द्रियों के रमण करने वाले का जोवन तो व्यर्थ ही है। सार्थक जीवन तो वही है जो मोक्ष के लिये प्रयत्नशील हो। जिसका लक्ष्य केवल शरीर सुख ही है, इन्द्रिय भोग प्राप्ति है, वह क्या जीवन है।"

अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न वृष्टि से उत्पन्न होता है, वृष्टि धूम्र से होती है, विशुद्ध धूम्र यज्ञ से बनता है, यज्ञ की विधि वेद बताता है। यह परमात्मा द्वारा चलाया हुआ चक्र है। इस चक्र का जो अनुवर्तन नही करता। मनमानी घर जानी करता है। वह चाहे पशु-पक्षी हो, मनुष्य हो, धनी हो, निर्धन हो, संसारी बुद्धि वाला हो, निर्बुद्धि हो सब की एक ही गति होती है, वे ससार चक्र में घूमते ही रहते हैं। एक योनि से दूसरी योनि में जाते रहते है। उनका जीना न जोना बराबर ही है। जीना तो उसी का सार्थक है, जिसने ज्ञान द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त करली है।

सूतजी कहते है—मुनियो! जब भगवान् ने वैदिक कर्म काण्ड यज्ञ यज्ञादि पर इतना अधिक बल दिया तब अर्जुन को संदेह हुआ कि पहिले तो भगवान् ज्ञान निष्ठा और कर्म निष्ठा दो बता आये हैं, और अब पूरा बल यज्ञ यज्ञादि कर्मों पर ही दे रहे हैं। कह रहे हैं—जो बेद विहित कर्मों का अनुष्ठान नही करता, वह पापी है, तो इससे तो शुक आदि मुनि भी नहीं बच सकते। क्योंकि वे बलि वैश्व देव यज्ञ नही करते। देवता, ऋषि, पितर, मनुष्यादि का तर्पण नहीं करते।

श्राद्ध नहीं करते। तब तो इनका भी जीवन व्यर्थ है। इसी शंका का भगवान् जो समाधान करेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

ऐसे ही हे पार्थ! जगत को चक्र सनातन।
मख वेद ही सत्य वही अज पुरुष पुरातन॥
होहि प्रवरतित चक्र चले अनुकूल न तातैं।
पालन नहिं करतव्य करैं सुख होवै जातैं॥
ये भोगी इन्द्रियरमन, पाप पंक में फँसे नर।
ते (तो जीवें व्यरथ ही, विहित करम ही सुघर वर॥

आत्म तृप्त ज्ञानी के लिये कोई कर्तव्य नहीं

[६]

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥*

(श्री भग० गी० ३ अ० १७, १८ श्लो)

छप्पय

आत्मा ई है सत्य और सब असत कहावै।
है अव्यक्त अनादि आतमा वेद बतावै ॥
जो आत्मा में रमन करै वह आत्मराम है।
आत्मा में ही तृप्त तिन्हें फिर कौन काम है ॥
जाकी नित ही आत्मरति, आत्मतृप्त सन्तुष्ट है।
ताकूँ जग में रह्यो फिर, कहो कौन करतव्य है ॥

---

* परन्तु जो पुरुष आत्मतृप्त तथा आत्मरति है और सदा आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है कि यह उसे करना ही चाहिये ॥१७॥

इस संसार में उस ज्ञानी पुरुष का कर्तव्य से भी प्रयोजन नहीं, न अकर्तव्य से कोई प्रयोजन। उसका सम्पूर्ण प्राणियों में कुछ भी स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं है ॥१८॥

द्वितीय अध्याय में—भगवान् ने कर्म की अपेक्षा ज्ञान की बहुत प्रशंसा की। तब अर्जुन ने कहा—"भगवन्! आपके मन में तो सिद्ध यही हुआ न कि कर्मकाड की अपेक्षा बुद्धि (ज्ञान) श्रेष्ठ है। इतना सब होने पर भी आप मुझको बार-बार क्षत्रिय धर्म का कर्म करने को-युद्ध करने को-कह रहे हो यह कैसी उल्टी बात है। मिलीजुली बात मत करो। जिसके लिये ज्ञान श्रेष्ठ हो, उसके लिये होता रहे। आप तो मेरे लिये एक निश्चित मार्ग बता दो जिससे मैं परम श्रेय को प्राप्त कर सकूं।"

कोई उतावला उपदेशक होता तो कह देता—तेरे लिये तो भैया, मैं यही उचित समझता हूँ कि तू युद्ध कर। किन्तु भगवान् उतावले उपदेशकों में नहीं है। वे अर्जुन को लक्ष्य करके मनुष्य मात्र को उपदेश दे रहे हैं अर्जुन नर है। वह समस्त मुमुक्षुओं का प्रतिनिधित्व करता है। इसलिये भगवान् शीघ्रता न करके शनैः शनैः उसे ऐसे समझाते हैं, जिससे पूरी बात उसके हृदय में बैठ जाय। पूरे विषय को हृदयंगम कर लें। प्रश्न इतना ही था "मेरे लिये आप दो न बताकर एक निश्चित मार्ग बता दो।" इसका उत्तर यह था अमुक मार्ग तुम्हारे लिये हितकर है। किन्तु भगवान् ने मूल प्रश्न को छुआ ही नहीं। कहने लगे—"लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा" इस लोक में दो निष्ठायें हैं। प्रश्न कुछ और उत्तर कुछ और। कोई बहरा आदमी था बैंगन लिये जा रहा था। मार्ग में उनके एक बहुत पुराने मित्र मिले। उन्होंने कहा—"राम-राम जी" बहरे ने शब्द तो सुने नहीं, ओठ हिलते हुए दिखाई दिये। उसने अनुमान लगाया कुछ पूछ रहे है। मैं बहरा हो गया हूँ, इस बात को वे कहना नहीं चाहते थे, उन्होंने अनुमान लगाया। यही पूछते होंगे कहाँ गये थे क्या लाये हो?"

इसलिये राम-राम के उत्तर में बहरे जी बोले—अजी, बाजार गया था, बैंगन लाया हूँ।"

उस आदमी ने पूछा—"कहो, बाल-बच्चे सब अच्छे हैं?"

इसने फिर होठ हिलते देखे। अब के अनुमान किया—पूछ रहे होंगे बैंगनों का क्या करोगे।"

इसलिये बहरे बोले—"सब ससुरों का भुरता बनाकर रोटी से खालेंगे।"

"वह आदमी हंस पड़ा। प्रश्न कुछ उत्तर कुछ। भगवान् न तो बहरे है, और होते भी तो वे अपने बहरेपन को छुपाते नहीं। फिर उनसे जो कुछ पूछा गया उसका दूसरा कुछ उत्तर क्यों दिया।"

बात ऐसी नहीं है। वे दो निष्ठा बता कर पहिले यह सिद्ध करना चाहते हैं, कि मैंने दाल-भात को मिलाकर खिचड़ी नहीं पकाई है। दाल पृथक् है, भात पृथक् है दोनों पृथक्-पृथक् हंडी में बने हैं। कुछ लोग ऐसे है जो स्वाद को जीतने के लिये भात ही भात रूखा खाते हैं। कुछ ऐसे बीमार है, जिन्हें भात पचता नहीं केवल पतली दाल ही दाल पीते है। किन्तु अधिकांश लोग ऐसे होते है, कि दाल भात को पृथक्-पृथक् पात्रों में परसा कर भी दाल और भात को युक्ति से मिला कर खाते है। इतना सिद्धान्त बताने के अनन्तर फिर भगवान् मूल प्रश्न का उत्तर देंगे। तस्मात् इसलिये भैया तुम तो दाल और भात को उचित मात्रा में मिलाकर खाओ। इसीलिये भगवान् ने ज्ञान, निष्ठा, कर्म निष्ठा दो बताई। ज्ञानी लोगों को स्वाद से कोई प्रयोजन नहीं वे तो केवल बुभुक्षा को शांत करने के लिये जैसे-तैसे पेट भर लेना चाहते है। इसलिये स्वाद की अपेक्षा न करते हुए केवल अलौने भात से पेट भर लेंगे। कुछ स्वादु होते हैं, या बीमार

होते हैं। वे नमक मिरच खटाई जीरा हींग पड़ी स्वादिष्ट दाल को ही पीकर अपना काम चला लेते हैं। दोनों का भेद बताकर भगवान् कहते हैं इसलिये भैया तू दाल भात दोनों को भगवान् का भोग लगा दे। फिर भगवत् प्रसाद समझकर प्रेम पूर्वक दोनों को ही पाजा। इससे ज्ञानियों की भाँति तेरा पेट भी यथेष्ट भर जायगा, स्वाद भी आ जायगा और कुछ हानि न होगी। इसी का नाम निष्काम कर्म योग है।

इसलिये पहिले तो भगवान् ने वेद विहित यज्ञादि कर्मों की बड़ी प्रशंसा की कर्म निष्ठा का प्रतिपादन किया। फिर दो श्लोकों में ज्ञाननिष्ठ संन्यासी का स्वरूप बताया और अंत में अर्जुन के प्रश्न का उत्तर दिया इसलिये (तस्मात्) तुम तो आसक्ति छोड़कर कार्य कर्म को करो यहाँ प्रत्यक्ष निष्काम कर्म करने की आज्ञा है। यद्यपि ये तीनों ही वस्तुयें वे ही दोनों दाल भात हैं। एक भात ही खाकर तृप्ति का अनुभव करता है। दूसरे पतली दाल खाकर रोग को बढ़ने नहीं देते या जिह्वा को तृप्त कर लेते हैं। किन्तु तीसरा आदमी पेट तो भर ही लेता है, किन्तु अन्न को (ब्रह्म को) स्वादिष्ट बनाकर उसका उपयोग करता है।

सूत जी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने वेदविहित बलि वैश्वदेव तथा अन्य नित्य नैमितिक कर्मों की इतनी प्रशंसा की, और अंत में कह दिया जो इस यज्ञ चक्र में सहयोग नहीं देता, वेद-विहित कर्मों को नहीं करता, उसका जीवन तो व्यर्थ है।

इस पर अर्जुन ने कहा—"तब तो भगवन्! मैं इस युद्ध को छोड़कर वेदी बनाकर वेदविहित यज्ञानुष्ठानों में ही लग जाऊँ। स्वय ही न लग जाऊँ, ये लंगोटी लगाये घर-घर से भिक्षा करते हुए कर्म से रहित शुकदेव आदि संन्यासी घूम रहे हैं, इन्हें भी

पकड़-पकड़ कर यज्ञ रूपी महान् शुभ कर्मों में लगा दूं ?"

इस पर हँसते हुए भगवान् बोले—"अरे, भैया, तुम समझे नहीं। जो जन्मजात वैराग्यवान् है, जो अपने आत्मज्ञान में ही तृप्त हैं। जो आत्मा में ही क्रीड़ा करते रहते हैं। जिन्हे रति के लिये किसी बाहरी वस्तु की अपेक्षा नहीं। ऐसे आत्मवान् आत्म-क्रीड़ आत्मरति आत्मतुष्ट ज्ञानी विरागी पुरुषों के लिये कोई शास्त्रीय बन्धन नहीं। उनके लिये कोई कर्तव्य नहीं वे यदि वैदिक कर्मकांड से विरत है, तो उनके लिये किन्चित् भी दोष नहीं। वे तो स्वतः तृप्त हैं। निष्काम कर्मों का शुभ फल—महा फल—तो उन्हें प्राप्त ही हो चुका। वे विधि के दास नहीं। शास्त्रीय आज्ञाओं से वे ऊँचे उठे हुए है, उनके लिये शास्त्रीय अनुशासन लागू नहीं।

अर्जुन ने कहा—"तो क्या ऐसे आत्मवान् पुरुष को कदापि कर्म करना ही न चाहिये ?"

भगवान् ने कहा—ऐसा भी मत कहो "कर्म करना ही न चाहिये" यह भी तो एक अनुशासन ही है। उनकी इच्छा पर पर छोड़ दो। ब्रह्मज्ञानी आत्मज्ञानी पुरुष, संन्यासी किसी की आज्ञा के अधीन नहीं होता, वह विधि निषेध दोनों से ही रहित है। उसके लिये न को कोई कर्तव्य कर्म है और न अकर्तव्य। उसके लिये न कोई विहित कर्म है न अविहित। उसे इन सबसे कोई प्रयोजन नहीं। क्योंकि उसका ब्रह्मा से लेकर चीटीं पर्यन्त, जंगम तथा स्थावर किसी भी प्राणी से—भूत मात्र से—स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं। वह कर्म नहीं करता तो भी ठीक है और जड भरत की भाँति राजा रहूगण को उपदेश देता यह भी ठीक है। इसलिये आत्मनिष्ठ ज्ञानी पुरुष से कर्म करने का तुम आग्रह कदापि न करना।"

अर्जुन ने कहा—"महाराज, फिर वही बात। फिर आप कर्म

की अपेक्षा ज्ञान को श्रेष्ठ बताने लगे। फिर कर्म त्यागी वीत-रागी संन्यासी की प्रशंसा करने लगे। अच्छा उनकी आप प्रशंसा करें तो करते रहें। मुझसे क्या कहते हैं, मेरे मूल प्रश्न का तो उत्तर दीजिये। दोनों मार्गों में से मै किसे ग्रहण करूँ ?"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! इस पर भगवान् जो उत्तर देंगे। उसका वर्णन मै आगे करूंगा।

छप्पय

आत्मतृप्त जे पुरुप नहीं करतव है तिनिकूँ।
दोऊ एक समान भेद है कछु नहिं उनकूँ॥
करमनि कूँ यदि करें नहीं बन्धन मे आवैं।
नहीं करें तो वेद विप्र सुर दोप लगावैं॥
सर्वभूत में स्वार्थ को, तिनि को नहिं सम्बन्ध है।
अज्ञानी के ही निमित, करमनि को ही बंध है॥

तू तो भैया निष्काम कर्मों को ही कर

[१०]

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तोह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोक संग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि॥*
(श्री भग० गी० ३ अ० १९,२० श्लो०)

छप्पय

आसक्ति ही एक कर्म में बन्धन कारक।
अनासक्त को कर्म बनें भव जग के तारक॥
जातें तुम आसक्ति छोड़ि शुभ करम करो नित।
करतव है यह करम न राखो फल में निज चित॥
अनासक्त ह्वैकें करे, करमनि कूँ जो नेम तैं।
सो पावे पद करम करि, परमात्मा को प्रेम तैं॥

---

* इसलिये तू आसक्ति-रहित होकर निरन्तर कर्तव्य कर्मों को कुशलता से करता रह। क्योंकि अनासक्त पुरुष ही कर्मों को करता हुआ परमात्मा को प्राप्त कर लेता है॥१९॥

देखो, कर्म के ही द्वारा जनक आदि परम सिद्धी को प्राप्त हुए हैं। इसलिये तुझे लोक संग्रह को ध्यान मे रखते हुए कर्तव्य कर्मों को करते ही रहना चाहिये॥२०॥

भगवान् ने गीता में दो निष्ठाये बताबी है। ज्ञानियों के लिये ज्ञानयोग और कर्म योगियों के लिये कर्मयोग। कर्म योगियों में भी दो भेद है कर्म योगी और निष्काम कर्म योगी। कर्म योगी तो वर्णाश्रमी हैं। जिनको वर्ण धर्म और आश्रम धर्म का अत्यन्त आग्रह है। उनके मत में केवल वर्ण आश्रम रूपी धर्म का आचरण करते रहो, अपने-अपने वर्ण आश्रम के अनुरूप कर्म करते रहो। मोक्ष प्राप्त हो जायगी। उनके मत में जो वर्णाश्रम से इतर है। पंचम वर्ण वाले है, उन्हे सबसे पहिले धर्म कर्म करने वालों की सदा सेवा रूपी कर्म करते रहना चाहिए। चोरी, हिंसा, झूठ, अशौच, अनाचार का परित्याग करके श्रद्धा भक्ति के साथ समाज की सेवा रूपी कर्म में निरन्तर लगे रहना चाहिये। इससे क्या होगा, कि इस जन्म में जो तुमने सेवा रूप पुण्य कर्म किया है, इस जन्म में तो तुम वर्णाश्रमी नहीं बन सकते। सेवा के पुण्य से तुम्हें स्वर्ग मिलेगा। स्वर्गीय सुखों को भोग कर थोड़े पुण्य शेष रह जाने पर तुम्हारा जन्म वर्णाश्रमी समाज में हो जायगा। तुम्हारा जन्म सद्शूद्र कुल में हो जायगा। फिर भी तुम निरभिमान होकर सेवा रूपी कर्म को कर्तव्य समझकर करते रहोगे, तो अन्त में मर कर स्वर्ग सुखों को भोगकर वैश्य हो जाओगे, वहाँ तुम अपने वर्ण आश्रम के अनुरूप कर्म करते रहोगे तो मरकर स्वर्ग में पुण्य के प्रभाव से सुखों को भोगकर क्षत्रिय हो जाओगे। क्षत्रिय होने पर ब्रह्मचर्य धारण पूर्वक गृहस्थ धर्म का पालन करते-करते अन्त में गृहस्थी को त्याग कर वन में जाकर तपस्या रूपी कर्म को करते-करते मर जाओगे तो तुम्हें तप लोक की प्राप्ति होगी। वहाँ से कभी भी पुण्य क्षीण होने पर फिर जन्म होगा तो ब्राह्मणकुल में जन्म होगा। ब्राह्मण होने पर विधिवत् ब्रह्मचारी के कर्मों को करते

हुए गृहस्थी बनोगे, वहाँ श्रोतस्मार्त कर्मों का विधिवत् अनुष्ठान करते हुए वानप्रस्थी बनोगे, वहाँ भी नित्य नैमित्तिक कर्म बलि वैश्य देव तथा अग्नि होत्र को न छोड़ोगे। शास्त्र में जैसे वानप्रस्थ के कर्म बताये कि वर्षा के दिनों में मैदान में बैठकर पूरी वर्षा को सिर पर ले। जाड़ों में कण्ठ पर्यन्त जल में खड़ा होकर तपस्या करे। गरमी में धूप में बैठ कर चारों ओर अग्नि जलाकर तप करे। ऐसा करते-करते वह संन्यास का अधिकारी बन जायगा। तब अग्निहोत्र की अग्नि को प्राणाग्नि जठराग्नि मे विलीन करले और संन्यास धर्मों का कठोरता से पालन करे। कोई संग्रह न करे एक ग्राम में एक दिन रहे, किसी से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखे। व्याख्यान प्रवचन न करे। इस प्रकार संन्यासी के कर्मों को करते-करते उसे पूर्ण ज्ञान हो जाय तो फिर उसे किसी लोक में जाना न पड़ेगा। यहीं उसकी मुक्ति हो जायगी। यदि संन्यासावस्था में उसे ब्रह्म ज्ञान नहीं हुआ और बीच में ही शरीर छूट गया तो उसे ब्रह्म लोक की प्राप्ति होगी। वहाँ ब्रह्मा जी उसके अपूर्ण ज्ञान को पूर्ण कर देंगे और प्रलय-काल मे वह ब्रह्मा जी के साथ मुक्त हो जायगा। इसी का नाम कर्म मार्ग या कर्म योग है। इसमें इतनी बातें हैं।

१—वर्णाश्रम धर्म ही मुक्ति से मिल सकती है।

२—संन्यासी को ही मुक्ति मिल सकती है।

३—संन्यासी केवल ब्राह्मण ही हो सकता है।

४—वेद विहित श्रोत स्मार्त कर्म ही मुक्ति में कारण हैं। अन्य पाखड कर्म नहीं। इस मार्ग में भगवान् को चाहे मानो चाहे मत मानों कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस मार्ग में भगवान् का मानना गौण है वर्ण और आश्रम विहित धर्म और वेदों को स्वतः प्रमाण मानना ही प्रधान है। इस मार्ग में कर्म करते-

करते अन्त में निष्काम बनकर मोक्ष लाभ करना है। यही उद्देश्य है।

दूसरा है निष्काम कर्म योग। इसको वर्णाश्रमी अवर्णाश्रमी दोनों ही कर सकते हैं। तुम जहाँ हो, जिस वर्ण में जिस आश्रम में हो, जिस स्थिति में हो वही रहो। इस मार्ग में यह आग्रह नहीं कि एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाओ ही। ब्रह्मचारी को सदृशी भार्या का वरण करना ही चाहिये। गृहस्थ छोड़कर वानप्रस्थ में जाना ही है। वानप्रस्थी को सन्यास ग्रहण करना ही है। आप वर्णाश्रमी हैं, वर्णाश्रम में ही बने रहिये। अवर्णाश्रमी हैं, तो वहीं अपनी कुल परम्परा वंशपरम्परा की वृत्ति को करते रहिये। यदि ब्रह्मचारी हैं, गृहस्थ बनने की इच्छा नहीं है, तो वहीं रहकर ही निष्काम कर्म करते रहें। गृहस्थी हैं, गृहस्थ में रहें। वानप्रस्थ है संन्यासी हैं तो वहाँ भी इस धर्म का अनुष्ठान करें। जिस कर्म को भी करें उसका फल न चाहें। उसे ब्रह्म को–भगवान् को–परमात्मा को–अर्पण कर दें परमात्मा को चाहे साकार माने चाहें निराकार कोई अन्तर नहीं पड़ता। निराकार साकार दोनों ही मानें। जो भी कर्म करें नि:संग होकर आसक्ति रहित होकर करें। आप जहाँ हैं वहीं आपको निष्काम कर्म द्वारा मुक्ति मिल जायगी। चाहे जिस वर्ण, आश्रम, जाति तथा सम्प्रदाय के मानने वाले हों। आप संसार-सागर से मुक्त हो जायँगे। यदि आप वेद विहित कर्मों में विश्वास करने वाले हैं। वेद के बलि वैश्व देव श्रौत स्मार्त अन्य कर्मों पर श्रद्धा रखते हैं, तो इन कर्मों को बड़े प्रेम से श्रद्धा-भक्ति के साथ करें, अवश्य करें, किन्तु उन्हें निष्काम भाव से बिना किसी फल की इच्छा से करें उस दशा में इसी निष्काम कर्म योग का नाम उपासना मार्ग होगा।

यदि आप वेद विहित कर्म कांडों के करने में असमर्थ हैं या अन्य किसी कारण से उन्हें नहीं कर सकते। आपकी वेदानुकूल श्रीमद्भागवतादि पुराणों के कर्मों पर निष्ठा है, तुम्हारी सगुण साकार अवतारों के पूजन पर आस्था है, तो पांचरात्र आदि शास्त्रों के अनुसार भगवान् का पूजन करें। उनके नामों में निष्ठा है तो उनके नामों का श्रद्धाभक्ति के साथ झांझ मृदंग के साथ कीर्तन करें। उनके रूप में निष्ठा है, तो भगवान् के सगुण साकार रूप का ध्यान करें। उनकी लीलाओं पर निष्ठा है तो उनकी लीलाओं का अभिनय देखा करें। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद सेवन, दास्य, सख्य, वात्सल्य, आत्मनिवेदन आदि भगवान् के सम्बन्ध की जिस निष्ठा में रुचि हो, उसे ही श्रद्धा-भक्ति से करें, किन्तु करें निष्काम भाव से। जो करें उसे भगवद्अर्पण बुद्धि से करें। मेरी इस पूजा से सर्वात्मा श्री हरि प्रसन्न हो जायँ, उस दशा में यही निष्काम कर्मयोग भक्ति मार्ग के नाम से कहा जायगा।

इसमें इतनी बातें होंगी—

१—इस मार्ग में चाहे निराकार रूप में या साकार रूप में भगवान् को मानना परमावश्यक है।

२—क्योंकि यह पद्धति पुराण आदि शास्त्रों के सम्मत है और पुराणादि शास्त्र वेदों का अनुसरण करते हैं, इसलिये वेदों को अपौरुषेयत्व मानना होगा।

३—इसमें वर्ण आश्रम का कोई आग्रह नहीं। सभी वर्ण के सभी आश्रम के तथा अवर्णाश्रमी भी और स्त्रियाँ भी इस धर्म का पालन कर सकती हैं।

४—जो भी भगवान् की भक्ति करेगा वही उन्हें प्राप्त करेगा। (संसार चक्र से मुक्त हो जायगा) यदि आपकी निष्ठा

बाहरी पूजा में नहीं है, आप अपने भीतर की क्रियाओं को ही संयमित करके अपने स्वरूप का ज्ञान करना चाहते हैं, विमुक्त बनने के इच्छुक हैं, तो यम, नियम, आसन, प्राणायाम, और ध्यानरूपी कर्मों द्वारा समाधि अवस्था को प्राप्त कर सकते है, तब यह निष्काम कर्मयोग अष्टाङ्गयोग के नाम से कहा जायगा।

यदि आप वेदों को स्वतः प्रमाण नहीं मानते, किन्तु आपकी ईश्वर में किसी महापुरुष में अटूट दृढ़ निष्ठा है, और उनके द्वारा परमात्मा को प्राप्त करना चाहते है, तो गीताशास्त्र इस पंथ को भी निष्काम कर्मयोग में ही मानने को तैयार है। भगवान् का कहना है जो मुझे जिस भाव से भी भजता है उसी भाव से वह मुझे प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार कर्मयोग के ये कर्मयोग और निष्काम कर्मयोग दो भेद हुए यह तो कर्म निष्ठा हुई। अब दूसरी है सांख्यवादियों की ज्ञान निष्ठा या ज्ञानयोग है।

२—ज्ञानयोग–में कर्मों का कोई आग्रह नहीं, वर्ण आश्रम का कोई आग्रह नहीं, कर्तव्य अकर्तव्य का कोई आग्रह नहीं। वे किसी के ऋणी नहीं, देवता, पितर, ऋषि तथा मनुष्यो के लिये उनका कोई कर्तव्य नहीं। वे कर्मों से दूर रहते है। दूर रहने का भी आग्रह नहीं। कर्म भी कर लेते है, शरीर निर्वाह के लिये भिक्षा-वृत्ति करते हैं। उन्हें मुक्ति प्राप्त करनी नहीं होती, वे तो जीवन्मुक्त ही है। वे आत्मरत, आत्मतुष्ट, आत्मक्रीड़ तथा आत्मतृप्त है। ऐसे ज्ञाननिष्ठ ज्ञानयोगी विरले ही हैं।

इससे योग तीन प्रकार के हुए एक कर्मयोग दूसरा निष्काम कर्मयोग तीसरा ज्ञानयोग। भगवान् ने गीता में कर्मयोग और निष्काम कर्मयोग को एक ही करके बताया है। उपासना मार्ग ही निष्काम कर्मयोग है उसे ही भक्तियोग या भक्ति मार्ग कहें। गीता

मे अर्जुन से जिन दो निष्ठाओं का वर्णन किया है, उन्ही का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् ने श्रीमद्‌भागवत में उद्धवजी से स्पष्ट कहा है—"हे मेरे प्यारे उद्धव ! मैंने मनुष्यों के कल्याणार्थ तीन प्रकार के योग वताये हैं, एक ज्ञानयोग, दूसरा कर्मयोग और तीसरा भक्तियोग। इन तीनों के अतिरिक्त चौथा कोई अन्य उपाय है ही नहीं।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् ! इन तीनों योगों के अधिकारी कौन है ?"

भगवान् ने कहा—"देखो, उद्धवजी ! जो लोग कर्मो से और उनके फलों मे सर्वथा विरक्त बन गये है जो कर्मो को त्याग चुके है वे लोग ज्ञानयोग के अधिकारी हैं। इसके विपरीत जिनके चित्त में कर्मों से और उनके फलों से वैराग्य नहीं हुआ है, उनमें दुःख बुद्धि नही हुई है, वे सकामी लोग कर्मयोग के अधिकारी हैं, किन्तु जो पुरुप न तो बहुत अधिक विरक्त ही हैं और न अत्यन्त आसक्त ही है तथा किसी पूर्वजन्म के शुभ संस्कारों से संयोग सस्कार सौभाग्यवश मेरी लीलाओं में, मेरी कथाओं में, मेरी सेवा आदि में श्रद्धा उत्पन्न हो गयी है वे लोग भक्तियोग के अधिकारी है। उनको उसी भक्ति योग के ही द्वारा सिद्धि मिलेगी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति होगी।

आगे भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में कहा—"उद्धव ! यह कर्म करना चाहिये, यह कर्म नही करना चाहिये आदि-आदि कर्मों के सम्बन्ध में जितने भो विधि निपेध हैं ये तभी तक है, जब तक कर्ममय जगत् और उससे प्राप्त होने वाले स्वर्गादि सुखों से वैराग्य न हो अथवा जब तक मेरी लीला कथा के श्रवण कीर्तन में श्रद्धा न हो जाय। इस प्रकार अपने वर्ण और आश्रम के अनुकुल धर्म में स्थित रहकर यज्ञों के द्वारा बिना किसी आशा और कामना के

मेरी आराधना करता रहे और निषिद्ध कर्मों से दूर रहकर, केवल विहित कर्मों का ही आचरण करता रहे, तो उसे न स्वर्ग में जाना पड़ेगा और न नरक में। अपने ही धर्म में निष्ठा रखने वाला पुरुष इसी शरीर में रहते-रहते, निषिद्ध कर्मों का परित्याग कर देता है और रागादि मलो से विमुक्त होकर परमपावन बन जाता है। इसी के द्वारा अनायास ही उसे विशुद्ध ज्ञान की अथवा मेरी भक्ति की प्राप्ति हो जाती है।"

इससे स्पष्ट हो गया, कि निष्काम कर्मयोग को ही भक्तिमार्ग कहते है। गीता में भगवान् अर्जुन से इसी निष्काम कर्मयोग का उसे अधिकारी समझकर उसी को करने के लिये जोर देकर कह रहे हैं। हे अर्जुन! तुम निष्काम कर्मयोग के ही अधिकारी हो इसलिये (तस्मात्) तुम्हें इसी योग का अनुसरण करना चाहिये।

सूतजी कहते है—"मुनियो! अर्जुन ने जब पूछा कि भगवन्! आप कभी ज्ञानयोग की प्रशंसा करते है कभी कर्मयोग की। मेरा श्रेय जिसमें हो, मेरे उपयुक्त जो निष्ठा हो उसे मुझे बताइये। तब भगवान् ने कहा—पहिले दोनों निष्ठाओं के रहस्य को तो समझ लो। दोनों के लक्षण तो जान लो। तब तुम्हें बताऊँगा तुम्हारे लिये कौनसी निष्ठा अनुकूल पड़ेगी।" ऐसा कहकर भगवान् ने पहिले कर्म मार्ग वैदिक कर्मकांड का उल्लेख करके यज्ञादि करने पर बल दिया। फिर कहा इन कर्मों को फल की इच्छा न रखकर कर्तव्य बुद्धि से करते रहो, तो भी सिद्धि प्राप्त हो जायगी और ज्ञाननिष्ठा से भी हो जायगी। दोनों एक ही लक्ष्य पर पहुँच जायंगे। दोनों मार्ग भिन्न-भिन्न है। तब भगवान् ने कहा—"अर्जुन! तुम तो इसलिये फल विशेष की कोई भी अभिलाषा न रखकर-फलासक्ति

से सर्वथा शून्य होकर–कर्तव्य समझकर–कर्मों को निष्काम भाव से करते ही रहो।"

अर्जुन ने पूछा—"निष्काम भाव से कर्म करते-करते हम ज्ञान निष्ठा के अधिकारी बन जायँगे और फिर ज्ञान निष्ठा द्वारा मोक्ष प्राप्त होगी क्या ?"

भगवान् ने कहा—देखो, अज्ञानी को तो मोक्ष प्राप्त हो नहीं सकती। ज्ञान के बिना तो मुक्ति होती ही नहीं। साध्य तो मुक्ति है। किन्तु ज्ञाननिष्ठा और निष्काम कर्मनिष्ठा ये दोनों पृथक् निष्ठायें हैं। एक को दूसरे की अपेक्षा नहीं। ज्ञाननिष्ठ साधक ज्ञाननिष्ठा से मोक्ष प्राप्त कर सकेगा और फलासक्ति से शून्य निष्काम कर्मयोगी निष्काम कर्म द्वारा ही मोक्ष प्राप्त कर सकेगा।

अर्जुन ने पूछा—प्रभो! निष्काम कर्म निष्ठा द्वारा किसी ने संसिद्धि–मुक्ति–प्राप्त की भी है क्या ?"

भगवान् ने कहा—की क्यों नहीं। जनकादिकों ने कर्म निष्ठा द्वारा ही परम सिद्धि–मोक्ष–को प्राप्त कर लिया है। वे संन्यासी नहीं बने, घर-घर मधुकरी नहीं माँगते फिरे, उन्होंने काषाय नहीं पहिने फिर भी उन्हें परम सिद्धि प्राप्त हो गयी।

अर्जुन ने पूछा—तब महाराज, निष्काम कर्मनिष्ठा श्रेष्ठ है, या कर्मों से संन्यास करके ज्ञाननिष्ठा द्वारा संसिद्धि को प्राप्त करना श्रेष्ठ है।

भगवान् ने कहा—दोनों ही श्रेष्ठ है, दोनों का ही चरमलक्ष्य एक है, दोनों के ही द्वारा मुक्ति मिल जायगी। जो अज्ञानी हैं अपंडित हैं, वे ही एक ही निष्ठा का आग्रह करते हैं। निष्काम कर्मयोगी कहते हैं, घर-घर से भीख माँगने में क्या रखा है, निष्काम भाव से कर्म करते ही रहना चाहिये। ज्ञाननिष्ठा वाले कहते हैं, ज्ञान के बिना तो मुक्ति होती नहीं निष्ठा

तो एक ही ज्ञान निष्ठा है अतः कर्म के द्वारा ज्ञाननिष्ठा प्राप्त की जाती है। यह केवल दुराग्रह मात्र है। सांख्य-ज्ञान-और योग-कर्मनिष्ठा-एक ही हैं दोनों का चरम लक्ष्य भिन्न नहीं। दोनो के ही द्वारा संसिद्धि-मुक्ति-मिल जाती है!

अर्जुन ने कहा—भगवन्! यह तो ठीक है ज्ञाननिष्ठा और निष्कामकर्म निष्ठा दोनों ही श्रेष्ठ हैं, फिर भी दोनों में उन्नीस बीस कोई तो होगी ही।

यह सुनकर भगवान् हंस पड़े और बोले—"बड़े विचित्र आदमी हो जी तुम। निष्ठाओं में भी उन्नीस-बीस होती हैं क्या? सालिगराम की सभा बटिया बराबर ही है। छोटी को पूजा करो चाहे बड़ी की, फल तो सभी समान देंगे।"

अर्जुन बोले—भगवन्! सालिग्राम की बटियाँ समान होने पर भी उनमें भी भेद होते हैं, कोई वीर नृसिंह होते हैं, कोई लक्ष्मी-नारायण होते हैं, कोई हिरण्यगर्भ होते हैं।

भगवान् ने कहा-अरे, भाई निष्ठा का अर्थ स्थिति है। कर्म स्थिति वाला भी संसार से विमुक्त हो जाता है, कर्म त्यागी संन्यासी भी मुक्ति लाभ करता है। फिर भी तुम्हें उन्नीस-बीस का आग्रह ही है, तो निष्काम कर्मनिष्ठा, ज्ञाननिष्ठा से अधिक उपयोगी है।

अर्जुन ने कहा—अधिक उपयोगी कैसे है महाराज!

भगवान् ने कहा—देखो, संसार में सबसे श्रेष्ठ कार्य यह है, कि जीवों को जो यह संसार भय है, इससे उन्हें छुड़ाना। जो एक जीव को भी संसार बन्धन से छुड़ाता है-उसे भगवत् उन्मुख करता है, वह सबसे बड़ा उपकारी है। लोगों को अपने-अपने धर्मों में प्रवृत्त कराना उन्हें विपरीत मार्ग से हटाना यह कितना बड़ा उपकार है। इसी का नाम लोकसंग्रह है। लोग हमारे सम्पर्क में आवें, हमसे कुछ सद्गुण सीखें यही लोकसंग्रह को

भावना है। जो गुम्म सुम्म वैठा रहे, सर्व कर्म परित्याग करके स्वयं मोक्ष के लिये प्रयत्न करता रहे, उससे तो यह लोकसंग्रही संसार की दृष्टि में उपयोगी ही है। इसलिये लोकसंग्रह को भी दृष्टि में रखकर निष्काम भाव से कर्मों को करते रहना अधिक उपयोगी है।"

अर्जुन ने पूछा—वैसे दोनों में से श्रेष्ठ तो ज्ञाननिष्ठ संन्यासी ही है।

भगवान् ने कहा—फिर वही मूर्खता की बात! अरे, बाबा हम कहते है, तत्वज्ञानी की दृष्टि में दोनों एक से है, ऐसा न होता तो परमज्ञानी सर्वस्व त्यागी परमहंस चक्र चूडामणि शुकदेव जी को ज्ञान प्राप्त करने भगवान् वेदव्यास राजर्षि जनक के समीप क्यों भेजते। किसी संन्यासी के पास भेजते उन्हें शुकदेव जी के योग्य समझा तभी तो उनके पास इन्हें भेजा था।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने निष्काम कर्मयोगी को अधिक उपयोगी बताकर उसकी प्रशंसा की, तब अर्जुन को जिज्ञासा हुई निष्काम कर्म करने वाला अपने लिये उपयोगी भले ही हो। अन्य लोगों को उसका क्या जपयोग?" इसी शंका का समाधान करते हुए भगवान् स्वयं अपना ही दृष्टान्त देते हुए जैसे बतावेंगे, उस विषय को मै आगे वर्णन करूंगा।

छप्पय

करम नहीं हैं व्यरथ करम तैं सब कुछ पावै।
साधक करै न करम परमपद किहि विधि पावै॥
जितने अब तक भये जनक आदिक नृप ज्ञानी।
अनासक्त हैं करयो करम ते नहिं अभिमानी॥
समुझि लोकसंग्रह करम, करो जगत गुरु पाइगो।
ज्ञान बिना तजि करम कूँ, अरजुन! फिर पछिताइगो॥

निष्काम कर्मयोग संसार को अधिक उपयोगी है

[११]

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ *

(श्री० भग० गी० अ० २१,२२ श्लोक)

छप्पय

श्रेष्ठ पुरुष जो करैं करैं अनुकरन सकल जन ।
बालक तैसे करैं करैं ज्याके जो गुरुजन ॥
सम्मानित जो होहिँ लोकहित सद्कर्मनितैं ।
शिक्षा सबकूँ देहिँ स्वार्थ तजि त्याग भावतैं ॥
श्रेष्ठ जाइ मानें बड़े, जाकूँ करें प्रमान हैं ।
बरतें ताकूँ अन्यजन, अधिक करें सम्मान हैं ॥

---

* श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचरण करता है इतर जन वैसा ही वैसा आचरण करते हैं, बड़े पुरुष जिस बात को प्रमाण मान लेते हैं, अन्य लोग भी उनका अनुवर्तन करते हैं ॥२१॥

हे पार्थ ! तुम मुझे ही देखो, तीनों लोकों में मुझे कुछ भी कर्तव्य नहीं है । मुझे कुछ पाने योग्य तथा न पाने योग्य भी वस्तु नहीं है, फिर भी मैं कर्म करता ही रहता हूँ ॥२२॥

इस लोक को गतानुगत कहा गया है, प्रायः सभी लोग अपने बडो को जो करते देखते हैं, उसी को आँख मूँद कर करने लगते हैं। तर्क की कसौटी पर कस कर काम करने वाले तो कोई लाखो करोड़ों में विरले ही होते है। सर्व साधारण लोग तो अपने से बडो के अनुगत होते हैं। बच्चे अपने माता-पिता तथा गुरुजनों को जो अच्छा बुरा करते देखते हैं, वे स्वयं भी उनकी देखा देखी करने लगते हैं। इस विषय में एक कथा है।

एक पंडित जी थे, उनकी पंडितानी बडो भोली-भाली धर्म भीरु थीं। पंडित जी कुछ तार्किक थे, पंडितानी ने कहा—"कल पंडित जी बासौड़ा है, शीतलामाई की पूजा है, कल ताजी रसोई न बनेगी, बासी खानी पड़ेगी।"

पंडित जी ने कहा—"यह बासी खाना आदि डुकरिया पुरान की बातें है। मेरे लिये तो तुम ताजी रसोई बना देना, तुम बासौड़ा करती रहना।"

पडितानी ने अपना अधिकार दिखाते हुए कहा—"तुम वेद की आज्ञा नहीं मानते। सदा से होता आया है। सब लोग करते आये हैं।"

पंडित जी ने हँसकर कहा—"सब वेद तुमने ही पढ़ लिये हैं। बताओ किस वेद में बासी खाना लिखा है। यह तो डुकरिया पुरान की बातें हैं।"

पंडितानी ने कहा—"तब सब लोग मूर्ख हैं, अकेले तुम ही बड़े भारी पंडित बने हो। सब लोग जो करेंगे वही हमें करना पड़ेगा।"

पंडित जी ने कहा—"देवी जी! मैं तुम्हें मना थोड़े ही करता हूँ, तुम बासौड़ा तिसौड़ा जो चाहो सो करो, किन्तु मुझे तो क्षमा

कर दो। रही सबकी बात सो, लोग तो भेड़िया धँसान हैं, एक भेड़ जिधर जाती है, सब उधर ही जाती हैं।"

पंडितानी ने कहा—"सब तो भेड़ हैं, अकेले आप ही बाघ हो, आपको लोक विरुद्ध बात न करनी चाहिये। सब जो करें उसे मानना चाहिये।

पंडित जी ने कहा—"देखो, मेरी बात मानों लोग सर्व-साधारण तो भेड़िया धंसान हैं। पीछे चलने वाले है। अच्छी बात है, तुम नहीं मानती हो, तो मै तुम्हें करके दिखा दूंगा। मै भी कल शीतला देवी का पूजन करने चलूंगा। गाँव भर में मुनादी करा दो, कि कल पंडित जी शीतला देवी का पूजन करने चलेंगे। सब लोग उनके पीछे ही चले, कोई आगे न जाय।"

इस बात से सब को प्रसन्नता हुई। दूसरे दिन बासी पकवान पानी पूजन की सामग्री लेकर पंडित जी चले, उनके पीछे-पीछे गाँव के सभी स्त्री पुरुष चले। मार्ग में एक गधा बैठा था, पंडित जी ने उसका पूजन किया, प्रदक्षिणा की साष्टांग प्रणाम किया, और आगे बढ़ गये। सब लोगों ने भी भी पंडित जी का अनुकरण किया। सभी ने गधे का पूजन किया। किसी ने कुछ भी नहीं सोचा। कुछ लोग थोड़े तार्किक थे, उन्होंने पूछा—"पंडित जी! पहिले तो कभी गधे का पूजन नही होता था, आपने यह नई रीति कैसे चलायी।"

पंडित जी ने उन्हें तनिक डाँटकर कहा—"मूर्ख लोग नहीं करते होंगे। गधा तो शीतलामाई का वाहन है, जैसे शंकरजी की पूजा के पहिले नन्दी का पूजन करते हैं, वैसे ही शीतला देवी के पूजन के पहिले उनके वाहन गर्दभ का पूजन अवश्य होना चाहिये।"

पंडित जी ज्येष्ठ थे, श्रेष्ठ थे विद्वान् थे वे सब चुप हो गये। तब पंडित जी ने आकर पंडितानी से पूछा—"कहो, सब लोग

भेड़िया धँसान है या नहीं। पहिले तुमने कभी गधे का पूजन किया था ?"

पंडितानी ने कहा—"पहिले तो कभी नहीं किया था। क्या किसी शास्त्र में गधे का पूजन नहीं है ?"

पंडित जी ने कहा—"लोग तो बड़ों के पीछे चलने वाले होते हैं, इसीलिये बड़े लोगों को बहुत समझ सोचकर शास्त्र की आज्ञानुसार आचरण करना चाहिये। आचार्यगण जिस मार्ग से गये हों, उसी मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। पाखंडियों के चक्कर में न फँसना चाहिये। आचार्य शब्द का अर्थ ही यह है, जो ऐसे शास्त्रीय वचनों को छाँट-छाँट कर चुन लेता है, जिनमें सभी जीवों का उपकार हो, जो सबके परम हितकर हों, और उनका स्वयं भी आचरण करके लोगों के सम्मुख एक आदर्श उपस्थित करता है। शेष सभी उसी आचार्य के दिखाये हुए पथ से चलते हैं, उसी का अनुवर्तन करते हैं। अतः आचार्य को महापुरुष को बड़ी सावधानी से वर्तना चाहिये उसके ऊपर सर्वसाधारण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक उत्तरदायित्व है।"

तब पंडितानी ने कहा—"महाराज, तब तो बड़े लोगों की एक भूल समस्त संसार के लिये घातक बन जाती है।"

पंडित जी ने कहा—"हाँ, यह बात तो है ही। श्रेष्ठ पुरुष जनता के पथप्रदर्शक होते हैं, उन्हें भूलकर भी निषिद्ध आचरण नहीं करना चाहिये। सदा सर्वदा सदाचार का ही पालन करना चाहिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब भगवान् ने निष्काम भाव से विहित कर्मों को करते रहने पर अधिक बल दिया, तो अर्जुन ने पूछा—"प्रभो ! मुझे ही आप निष्काम भाव से कर्म करते रहने को प्रेरित क्यों करते है ?"

इस पर भगवान् ने कहा—"तुम सर्वसाधारण क्षत्रियों के समान नहीं हो। तुम श्रेष्ठ पुरुष हो, नारायण के सखा नर हो।"

अर्जुन ने पूछा—"श्रेष्ठ होने से क्या हुआ ?"

भगवान् ने कहा—"हुआ यह है, कि श्रेष्ठों का कार्य संसार में अनुकरणीय हाता है, लोग भीतरी भाव की ओर तो कम देखते हैं। ऊपर के कार्यों का अधिक अनुकरण करते है। तुम जगत् प्रसिद्ध परम विख्यात योद्धा धनुर्धर धर्मपरायण होकर युद्ध के समय—चाहें वैराग्य से हो सही—रण से पराङ्मुख हो जाओगे तो सर्वसाधारण के लिये एक आदर्श हो जायगा। भागने वाले निर्बल डरपोक कायर जब युद्ध भूमि में भयभीत हो जाया करेंगे। तब यही कह दिया करेंगे, कि जब अर्जुन ऐसा शूरवीर विश्व विख्यात व्यक्ति रण से भाग गया, तो हमें क्या दोष लगेगा। इसलिये भैया, श्रेष्ठ पुरुषों को फूंक-फूंक कर पग धरना चाहिये। क्योंकि सर्वसाधारण लोग श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण का ही अनुकरण किया करते हैं। जिस बात को वे प्रमाण मान लेते हैं, दूसरे लोग फिर स्वय शास्त्रों को देखने का झंझट नही करते, अथवा उनमें शास्त्रीय निर्णय स्वयं करने की सामर्थ्य भी नहीं होती। वे तो बड़े लोगों द्वारा स्वीकृत प्रमाण को ही प्रमाण मानकर उनका अनुवर्तन करने लगते हैं।

अर्जुन ने कहा—"भगवन् ! तब तो बड़े लोगों को ज्ञान होने पर-कुछ कर्तव्य शेष न रहने पर भी-लोक संग्रह के लिये कर्म करते रहना चाहिये। ऐसा किसी ने किया है क्या ? इस विषय मे कोई प्रमाण हो तो दीजिये।"

भगवान् यह सुनकर हँस पड़े और बोले—"अर्जुन ! यदि घर के कोने में ही किसी को शहद मिल जाय, तो फिर उसे शहद के लिये पर्वतों पर भटकना नही पड़ता। इस विषय में प्रमाण

खोजने बाहर कहाँ जायँ, तुम प्रत्यक्ष में मेरा ही प्रमाण ले लो। तुम बताओ—मेरे लिये तीनों लोकों में कोई कर्तव्य शेष रह गया है क्या ?"

अर्जुन ने कहा—"नहीं भगवन्! आप तो परिपूर्ण हैं, कर्तव्याकर्तव्य से सर्वथा पृथक् हैं। आप तो स्वतः तृप्त हैं।"

भगवान् ने कहा—"देखो, मनुष्य की साधारणतया कर्मों में तभी प्रवृत्ति होती है, जब उसे किसी अप्राप्त वस्तु के प्राप्त करने की कामना हो। कोई धन हीन है, उसे धन प्राप्त करने की कामना है, तो वह धन प्राप्ति के लिये कृषि वाणिज्य या भिक्षा आदि व्यापार रूपी कर्म में प्रवृत्त होगा। क्या तुम्हें विश्वास है, कि मुझे किसी अप्राप्त फल के पाने की अभिलाषा है ?"

अर्जुन ने कहा—"प्रभो! आप तो आत्माराम हैं, आप तो कामना से रहित है।"

भगवान् ने कहा—"ऐसा होते हुए भी हे पार्थ! तुम देखते ही हो, मैं रात्रि-दिन संसार के हित के कार्यों में लगा ही रहता हूँ। कर्मों में तत्पर बना ही रहता हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"प्रभो! आप ऐसा क्यों करते हैं? जब आप स्वयं कृत कृत्य है आपको कोई कामना नही, अभिलाषा नही, कुछ भी पाना नहीं तब फिर आप कर्म करके व्यर्थ में कष्ट क्यों उठाते हैं? किसलिये सतत कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं ?"

सूत जी कह रहे हैं—"मुनियो! अर्जुन के ऐसे प्रश्न को सुनकर भगवान् जनार्दन हँसे और उसके प्रश्न का विस्तार के साथ परम युक्ति तथा चातुरी के साथ उत्तर देने लगे। भगवान् ने जैसे अर्जुन के इस गम्भीर प्रश्न का सरलता से उत्तर दिया, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप सब उसे दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

समुझावैं श्रीकृष्ण–पार्थ ! मोकूँ ही देखो।
मोकूँ का करतव्य न देनो मोकूँ लेखो॥
तीनि लोक में मोइ नहीं कछु लैंनो दैंनों।
काहू को नहिं रिनी न काहू तैं कछु लैंनों॥
फिरि हू हौं करतव समुझि, करम करूँ अव्यग्र चित।
मेकूँ करतो देखिकें, होवे सब संसार हित॥

श्रेष्ठ पुरुष कर्म न करें तो सभी अकर्मण्य बन जायँगे

[१२]

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥ *
(श्री भग गी० ३ अ, २३, २४ श्लोक)

छप्पय

यदि हौं करिकें करम नहीं आदर्श दिखाऊँ।
है हौं करम विहीन सबनि कूँ जिही जताऊँ॥
तो अनर्थ अति होहि सबहिँ करतव कूँ त्यागें।
तजिकें निज करतव्य करम तें सबई भागें॥
करें अनुसरन जगत जन, करतव तें सबई डरें।
हौं जैसो जैसो करूँ, सबहिँ अनुकरन तस करें॥

---

* हे पार्थ! क्योंकि मैं यदि सावधानी से कर्मों को न करूँ, तो भैया, फिर लोग सब प्रकार से मेरे बर्ताव का अनुकरण करने लगेंगे—सभी अकर्मण्य बन जायँगे ॥२३॥

यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सभी लोक नष्ट हो जायँगे, और मैं सांकर्य दोष का कर्ता समझा जाऊँगा तथा इस सम्पूर्ण प्रजा का विनाशकर्ता कहा जाऊँगा ॥२४॥

जो लोग ऋषभदेव, जड़भरत के सदृश सदा सर्वदा ब्रह्म वृत्ति में ही रहते है, जिन्हें शरीर को सुधि नही भोजन की जल की शौच अशौच की कुछ चिन्ता नहीं। जैसे भगवान् कपिल की माता देवहूति, तो ऐसी स्थिति पर पहुँचे हुए ब्रह्मज्ञान सम्पन्न पुरुषों के लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता, किन्तु जिनको तनिक भी शरीर की सुधि है। ऐसे ब्रह्मज्ञानी को भी सग्रह के ही निमित्त सही—निष्कामभाव से कर्तव्य कर्मों को करते ही रहना चाहिये, क्योंकि कोई भी व्यक्ति बिना कुछ किये रह नहीं सकता। जो ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ पुरुष हैं, उनके ऊपर बड़ा भारी उत्तरदायित्व रहता है। सर्वसाधारण पुरुष तो जड बुद्धि के है, वे स्वतः परमार्थ की ओर बढ़ नहीं सक्ते, क्योंकि उनके ज्ञानचक्षु नहीं—अन्धे है—ऐसे अन्धे अज्ञानियों के पथप्रदर्शक ज्ञानी ही है। यदि ऐसे अंधों को पथप्रदर्शक भी धन दारा लंपट—वेषधारी ठग—परमार्थ से रहित अंधे ही मिल गये, तो दोनों ही कुए में गिरेंगे। ऐसे पाखडी स्वय कूए में गिर जायं, तो कोई बात भी नहीं, किन्तु वे तो कामनी कात्र्चन के लोभी समाज को बटोरकर उसे भी अपने साथ कूए में गिरा देते हैं। यह संसार भी तो भगवान् का ही बनाया हुआ है, इसकी सेवा करना भी भगवान् की ही सेवा करना ही है। धूर्त पाखंडी—वेषधारी लंपट—लोगों को कुपथ की ओर न ले जायं, उनसे जनता को बचाना बड़े पुण्य का काम है। अतः शरीर का अनुसन्धान रहने तक भगवत् पूजा समझकर—निष्काम भाव से कर्मों को करते ही रहना चाहिये। संसारी लोगों को सुपथ पर चलाने के ही निमित्ति अज अव्यक्त परमात्मा अनेक अवतार लेते हैं। असंख्य रूपों में आकर इस पृथ्वी को अधर्म से बचाते है, धर्म की संस्थापना करते हैं। लोग तो अंधानुकरण प्रिय हैं। ज्ञानी पुरुष कर्मों से निवृत्त हो जाय, तो बहुत से आलसी—ढोंगी—

ज्ञानाभिमानी पुरुष-वेष बनाकर-अपने को ब्रह्म बताकर-कर्म हीन बन जायँगे। समाज में अनाचार-अत्याचार-फैलायँगे। समाज को कुपथ की ओर ले जायँगे। अतः श्रेष्ठ पुरुषों का परम कर्तव्य है, कि अपने स्वार्थ के लिये नहीं-प्रभु पूजा समझकर-ब्रह्मार्पण बुद्धि से कर्तव्य कर्मों को करते ही रहना चाहिये। जो स्वयं नकटे होते हैं, वे दूसरों को भी नकटा बनाने का प्रयत्न करते हैं। एक ज्ञानाभिमानी ढोंगी आचार्य था। उसकी किसी कारणवश नाक कट गयी। अब वह नाचने लगा, कूदने लगा, गाने लगा, हँसने लगा। लोगों ने उसकी इस प्रसन्नता का कारण पूछा, तो उसने कहा—"अहा, मुझे तो भगवान् के दर्शन हो रहे हैं।"

लोगों ने कहा—"हमें भी भगवान् के दर्शन करा दें।"

उस नकटाचार्य ने कहा—"जब तक नासिका रहेगी तब तक भगवान् नहीं दीखेंगे। इसी ओट में भगवान् छिपे हैं। नाक कटवा लो, मुझसे मंत्र ले लो, भगवान् दीखने लगेंगे।"

कुछ लोगों ने नाक कटवाली, उस नकटाचार्य ने उनके कान में कह दिया। "अब तो नाक कट ही गयी। अब जुड़ने की नहीं। भलाई इसी में है, कि तुम भी नाचने कूदने लगो।"

लोगों ने भी सोचा—नकटा कहलाने की अपेक्षा तो भगवद् दर्शी कहलाना ही ठीक है। वे भी नाचने कूदने हँसने लगे। होते-होते नकटों का एक बड़ा भारी समाज बन गया। वे कुछ काम तो करते नहीं थे; जनता के ऊपर भार बन गये। माल उड़ाते और अपने समाज को बढ़ाते थे। उस देश का राजा भक्त था, उसके यहाँ भी ये नकटे गये खूब हँसने खेलने और प्रसन्नता प्रकट करने लगे।

राजा ने पूछा—"आप सब इतने प्रसन्न क्यों हैं?"

वे कहने लगे—"अहाहा ! हमें साक्षात् भगवान् के दर्शन हो रहे हैं।"

राजा ने कहा—"कृपा करके हमें भी दर्शन करादें।"

उस नकटाचार्य ने कहा—"आप को दर्शन कैसे हो सकते है। भगवान् नाक की ओट में छिपे हैं। पहिले नाक कटवा लीजिये, हमसे मंत्र ले लीजिये, तब दर्शन होंगे।"

भगवान् के दर्शनों के लोभ से राजा नाक कटाने को तैयार हुआ। राजा का मन्त्री बडा बुद्धिमान था, उसने राजा से कहा—"महाराज पहिले मै नाक कटाकर मंत्र लेता हूँ, तब आप कटावें।"

राजा ने कहा ठीक है, मंत्री ने नाक कटवायी, तब उस नकटाचार्य ने कहा—"मंत्री जी ! अब हमारे समाज की लाज आपके ही हाथ में है। नाक तो कट ही गयी, अब आप भी नाचिये-कूदिये। राजा को भी नकटा बनाकर हम सब मिलकर माल उड़ावेंगे।"

मंत्री ने पहिले से ही नाक जोड़ने वाले को बुला रखा था, तुरन्त टाँके लगवाकर अपनी नाक जुड़वा ली, और उन सब नकटों को पकड़ कर जेल में डाल दिया। उनसे नित्य १० सेर आटा पिसवाना, जो नहीं पीसता उनके कोड़े लगवाता।

इस प्रकार के नकटों के अनाचार से बचाने के निमित्त ज्ञानी-पुरुष को बिना किसी फल की इच्छा किये अपनी स्थिति के अनुरूप लोकोपकारक कर्मों को करते ही रहना चाहिये। बहुत से ज्ञानी पुरुष ज्ञान होने पर भी अपने कर्मों में लगे ही रहते हैं।

सूतजी कहते है—"मुनियो ! जब अर्जुन ने यह पूछा कि आप स्वयं कृत-कृत्य होने पर भी कर्म क्यों करते रहते है। कर्म करके कष्टों को क्यों उठाते हैं, तो इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहने लगे—"अर्जुन ! यदि मैं कर्म न करूँ, तो बड़ा अनर्थ हो जायगा।"

अर्जुन ने पूछा—"क्या अनर्थ हो जायगा भगवन् !

भगवान् ने कहा—मेरे अनुयायी सब आलसी बन जायँगे। ज्ञानी तो कोई करोड़ों में एक बिरले ही होते हैं, नहीं तो सभी झंझटों से बचने का ही उद्योग करते हैं। आलस्य में पड़े रहना, सोते रहना, ऊँघते रहना कुछ न करना लोगों को सुहाता है। इसीलिये मैं आलस्य रहित होकर-अतन्द्रित होकर-निरन्तर कर्मों में तत्पर बना रहता हूँ। मै ऐसा न करूँ तो सब लोग मेरी देखा-देखी मेरे ही माग का अनुसरण करने लगेंगे। जो लोग हृष्ट-पुष्ट है, कर्म कर सकते है, कर्मों के अधिकारी भी है, वे भी कह देंगे—"कि इतने श्रेष्ठ पुरुष जब श्रीकृष्णचन्द्र जी ही कर्म नहीं करते, तो फिर हम क्यों कर्म करें।

अर्जुन ने कहा—"मान लो, सभी आपके अनुयायी कर्मों को छोड़ ही दें, तो क्या दोष है।"

भगवान् कहा—"कर्मों को सर्वथा छोड़ देना कोई—हँसी-खेल है क्या ? कर्तव्य कर्मों को छोड़कर वे निद्रा आलस्य में पड़े रहेंगे। इन्द्रियों को तृप्त करने को कुकर्म करने लगेंगे। कुकर्मों से नरकों में जायँगे। इस सबका दोष मुझे हो लगेगा, क्योंकि वे मेरे अनुयायी होने के कारण ही मेरी देखा-देखी कर्तव्य कर्मों से विमुख चल गये। जब लोग कर्तव्य कर्मों से विमुख हो जायँगे तो समाज में उच्छृंखलता बढ़ जायगी। ये समस्त लोक विनष्ट हो जायँगे। वर्ण सांकर्य, वर्णसांकर्य, आश्रम साकर्य आदि बढ़ जायँगे। इन सब अनर्थों का मूल कारण मै ही माना जाऊँगा, मैं ही वर्णसंकरता का कर्ता कहलाऊँगा और सम्पूर्ण प्रजा के विनाश का कारण लोग मुझे ही कहेंगे। इसीलिये मैं अतन्द्रित होकर-निरालस्य होकर कुछ न कुछ कर्तव्य कर्म करता ही रहता हूँ। यद्यपि मैंने महाभारत में शस्त्र न उठने की-युद्ध न करने की-एक विशेष

कारण वश-प्रतिज्ञा कर ली थी, फिर भी मैं हाथ पर हाथ रखे बैठा नहीं रहा। तुम्हारे रथ के हाँकने का ही काम मैंने ले लिया। तुमने कहा था—मैं आपका शिष्य हूँ, अनुयायी हूँ मेरी रक्षा करो, जो मेरा कर्तव्य हो उसका मुझे उपदेश करो। उपदेश केवल मुख से ही थोड़े दिया जाता है, कर्तव्य करके दिखा दिया जाता है, यदि तुम मेरे सच्चे अनुयायी हो, मुझे श्रेष्ठ मानते हो तो मेरा अनुवर्तन करो। जैसे मैं निरतर कर्तव्य कर्मों में लगा रहता हूँ, वैसे ही तुम भी कर्मों को न छोड़कर अपने कर्तव्य रूप कर्म में निरत रहो।

इस पर अर्जुन ने शंका की और कहा—"भगवान्! आप तो सर्वसमर्थ है, भगवान् है आप तो कर्म करने पर भी उनके फलों में लिप्त नहीं होते, आपको कतृत्वदोष नहीं लगता। किन्तु मै तो आपके सदृश नहीं हूँ। कसा भी लोक संग्रह की दृष्टि से कर्म करूँ, मुझे कर्तापने का अभिमान हो ही जायगा। अतः मैं आपकी भाँति कर्म कैसे कर सकता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे, उसका वर्णन मै आगे करूंगा।

छप्पय

करौ न हौं यदि करम नष्ट अरु भ्रष्ट होहिं सब।
कोई करै अनर्थ अर्थहित लड़ैं भिड़ैं तब॥
सती नारि नहिं रहैं करैं सबई मनमानी।
ज्ञान न अरजन करैं रहैं सबई अज्ञानी॥
संकरता जो दोष है, ताकौ हौं करता बनूँ।
नष्ट होहि सबरी प्रजा, नाश करनहारो बनूँ॥

अज्ञानियों में बुद्धि भेद पैदा न करें

[१३]

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥*
(श्री भग० गी० ३अ० २५,२६ श्लो०)

छप्पय

वस्तु एक ई जाइ भाव तें विष करि लेवो ।
भाव शुद्ध करि ताहि अमृत करिकें पुनि सेवो ॥
अज्ञानी आसक्त करें करमनि कूँ जैसे ।
आसक्ती तजि करें करम ज्ञानी हू तैसे ।
करें लोकसंग्रह निमित, पंडित हू सबरे करम ।
होहिँ लिप्त तिनमें नहीं, मूरख समझैं नहिँ मरम ॥

---

* हे भारत ! जैसे अज्ञानी जन कर्म में आसक्त होकर कर्म करते हैं, विद्वान् ज्ञानी को चाहिये वैसे ही अनासक्त भाव से कर्मों को करता रहे ॥२५॥

जो कर्मों में ही आसक्त है, ऐसे अज्ञानी पुरुषों में विद्वान् को बुद्धि भेद उत्पन्न नहीं करना चाहिये । उसे स्वयं योग युक्त होकर कर्म करते रहना चाहिये, और दूसरों से भी कराते रहना चाहिये ॥२६॥

दो व्यक्ति हैं, कर्म एकसा ही कर रहें हैं, किन्तु दोनों के फल में अन्तर हैं। पहिले राजपुत्रों को सभी विभागो म रहकर उनका काम सीखना पड़ता था। यहाँ तक कि उन्हें कुछ दिनों तक साधारण सैनिक का वेष पहिन साधारण सैनिक के सामान कार्यरत होना पड़ता था। जिस समय राजकुमार साधारण सैनिकों के साथ उनका जैसा वर्ताव करता है, । अपने अधिकारी को अभिवादन करता है, उसकी आज्ञा का पालन करता है, उस समय यह उसे यह भान रहता है, मैं राजकुमार हूं, यह साधारण अधिकारी मेरा नौकर है, दूसरे मेरे साथी जो इसे अभिवादन कर रहे हैं, वे भय से नौकरी के लिये अर्थ प्राप्ति के लिये कर रहे है। मुझे वेतन का लोभ नहीं, मुझे वेतन चाहिये भी नहीं। मैं जो इसकी आज्ञा का पालन कर रहा हूं इसे प्रणाम कर रहा हूं, केवल साधारण सैनिक का कर्तव्य क्या है, उस कर्तव्यपालन की दृष्टि से करता हूं। राजकुमार और साधारण सैनिकों का गणवेष एकसा है, कार्य एकसा है, अनुशासन पालन एकसा है, किन्तु दोनों के फल में महान् अन्तर है। एक तो प्रजा का पालन मैं तत्परता से कर सकूं, मेरे द्वारा सभी कर्तव्यों का भलो भाँति पालन हो सके, इस दृष्टि से शिक्षा ग्रहण कर रहा है। दूसरा सकाम भाव से–वेतन के लोभ से–कर्म में आसक्त है। ऊपर से देखने पर आसक्ति दोनों की समान प्रतीत होती है, किन्तु भावना दोनों की भिन्न भिन्न है।

वनवास के समय पांडवों के साथ द्रौपदी भी थीं, जब बारह वर्ष का वनवास समाप्त करके एक वर्ष का अज्ञातवास करना था, तब सभी वेष बदल कर विराट् के यहाँ नौकरी करने लगे। द्रौपदी ने विराट् राजा की रानी से कहा—"मैं जाति की सैरन्ध्री (नाइन) हूँ, आपके यहाँ नौकरी करूँगी, किन्तु मेरी तीन

शर्तें हैं—'एक तो मैं किसी के पैर नहीं धोऊँगी, किसी का उच्छिष्ट भोजन न करूँगी। तीसरे कोई पर पुरुष मुझसे छेड़छाड़ करेगा तो उसे आपको दंड देना पड़ेगा। रानी ने ये बातें मान लीं और उसे अपने यहाँ नौकरानी रख लिया। महारानी द्रौपदी साधारण नौकरानी जो सब सेवा का कार्य करती थीं वे भी उन्हीं की भाँति सब कार्य करती थी। जूठे बर्तन मलती थी, रानी के शरीर में तैल मर्दन करती, उन्हें न्हिलाती धुलाती, उनकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करती, किन्तु अन्य नौकरानियों के फल में और इनके फल में बहुत अन्तर था यद्यपि अन्य नौकरानियों की भाँति मासिक वेतन भी ये लेती थीं, किन्तु अन्य नौकरानी लोभवश भोग के लिये वेतन लेती, ये लेना चाहिये इसलिये लेती थी। अन्य नौकरानी भयवश उनकी आज्ञा का पालन करती, किन्तु ये कर्तव्य समझ कर करतीं। अन्य सैरन्ध्री स्वाद के लिये राजा आदि पर पुरुषों का उच्छिष्ट भोजन करती। ये उसका परित्याग कर चुकी थी। अन्य दासियाँ राज परिवार के पुरुषों को रिझाने के लिये—उनसे पारितोषिक पाने के लिये—उनकी नीच से नीच सेवा करती, उनके चाहने पर अपने शरीर को भी अर्पण कर देती, किन्तु ये इन कामों से सदा सर्वदा दूर ही रहती। कीचक ने अन्य दासियों की भाँति इनसे भी अनुचित कार्य कराना चाहा, किन्तु इन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया और इसी कारण उसकी मृत्यु भी हुई।

दूसरे आदमी द्रौपदी जी को रानी की सेवा में आसक्त देखते तो वे इन्हें भी और सब दासियों की भाँति महल की दासी ही मानते क्योंकि इनके ऊपरी आचरण सब साधारण दासियों जैसे ही थे, किन्तु भीतर में बहुत अन्तर था, भीतर वे अपने को इस विराट् महारानी से भी श्रेष्ठ समझती थीं। इसी प्रकार जैसे

अज्ञानी सकाम कर्मों में आसक्त होकर काम में लगे रहते हैं वैसे ही निष्काम कर्म योगी विद्वान् की लोक संग्रह की दृष्टि से सकामियों की भाँति कर्मों में लगा रहता है, किन्तु दोनों के फल में बहुत अन्तर है। वह भोगों में आसक्त रहने के कारण भोगों को प्राप्त करता है, ज्ञानी अनासक्त होने के कारण निष्काम भाव से उन्हीं कर्मों को करता हुआ भी मोक्ष को प्राप्त करता है। जीवन मुक्ति के सुख का उपभोग करता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने यह शंका की, कि कैसा भी लोक संग्रह की दृष्टि से मैं कर्म करूँ, मुझे कर्तृत्व अभिमान हो ही जायगा। इसका उत्तर देते हुए भगवान् कह रहे हैं—"देखो, भारत! कर्म बन्धन के कारण नहीं होते। उन कर्मों में जो अभिनिवेश है, वही है बन्धन का कारण है। बहुरूपिया नाना रूप बनाकर वर्ताव करता है, कभी तो वह राज कर्मचारी बनकर दूसरों पर आज्ञा चलाता है, कभी स्त्री वेष रखकर स्त्रियों की भाँति हाव भाव कटाक्ष चलाता है। कार्य सब स्त्रियों के जैसा ही करता है। अनजान लोग दूर से देखें, तो उसे अन्य स्त्रियों की भाँति स्त्री ही समझें, किन्तु इस व्यवहार से वह स्त्री तो नहीं बन जाता। इसी प्रकार लोक संग्रह की इच्छा से कर्म करने वाले विद्वान् की कर्मों में आसक्ति नहीं हो सकती। इसलिये जैसे कर्मासक्त पुरुष कर्म करते हैं, वैसे ही ज्ञानी पुरुष को भी निरन्तर कर्म करते रहना रहना चाहिये। अन्तर इतना ही है, कि कर्मों में आसक्ति नहीं रखनी चाहिये।

इस पर अर्जुन ने शंका की—"भगवन्! कर्म तो बन्धन कारक होते ही है। कोयले की दलाली में हाथ काले हो ही जाते हैं, अतः लोक संग्रह ही अभीष्ट हो, तो लोगों को मौखिक उपदेश कर दिया करें, कि आप लोग अपने कर्तव्य कर्मों से विमुख

न हों, कर्मों को करते ही रहें। स्वय कर्मों से दूर ही रहें।"

इस पर भगवान् ने कहा—"देखो, भैया! इस संसार में अधिकांश लोग कर्मासक्त ही हैं। इन कर्मासक्त अज्ञानी पुरुषों को आप कर्म त्याग का उपदेश दें, तो न तो ये संन्यासी ही बनेंगे न कर्म करने वाले हो रहेंगे, उभय भ्रष्ट हो जायँगे। इससे उपदेश देने वाले को भी दोप का भागी होना पड़ेगा। इसलिये कर्मासक्त अज्ञानी पुरुषों में बुद्धि भेद उत्पन्न नहीं करना चाहिये। रही स्वयं कर्म न करते हुए, उन्हें कर्म करते रहने को उपदेश की बात सो यह भी उचित नहीं। लोग केवल उपदेष्टा के उपदेश को ही सुनकर उसके अनुसार कर्म करने नहीं लगते, यह भी देखते है, कि इसका स्वय का आचरण कैसा है। इसलिये ज्ञानी विद्वान को चाहिये, कि जैसे वे सकाम भाव से कर्मों में आसक्त रहते है, वैसे ही स्वयं निष्काम भाव से उनमें आसक्त-सा लगा रहे।

अर्जुन कहा—तब तो महाराज, यह दम्भ हुआ कि आसक्त तो नही है, किन्तु लोगों को आसक्त की भाँति दिखावे।"

भगवान् ने कहा—अरे, भाई आसक्त की भाँति दिखाने से यह अभिप्राय नहीं कि उनके सम्मुख ढोंग करे। कर्मो को कर्तव्य बुद्धि से बिना फल की इच्छा से ईश्वरार्पण बुद्धि से लोक संग्रह के निमित्त करता रहे, उन्हें छोड़ने का आग्रह न करे। विद्वान् ही कर्मों को छोड़ देंगे तो मूर्ख लोग तो कर्मासक्त होने के कारण पथभ्रष्ट बन हो जायँगे। कर्म एक से होने पर भी मन की भावना तो दूसरी हो रहती है। कर्म ऐसे ही करने चाहिये। इसलिये योगी पुरुष युक्त होकर—सम्यक् प्रकार से समाहित चित्त से स्वयं आचरण करता हुआ प्रीति पूर्वक उन्हें भी कर्मों में लगाये रहने की प्रेरणा देता रहे। आज सकाम भाव से कर

रहे हैं, शनैः-शनैः निष्काम भाव से भी करना सीख जायँगे। सर्वथा कर्म न करने से तो पतित हो जायँगे। कर्तृत्वाभिमान न हो तो कर्म बिगाड़ नहीं सकते।

सूतजी कहते हैं—मुनियो इसी बात को स्पष्ट करते हुए भगवान् अर्जुन से जो कहेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

कर्मनि में आसक्त पुरुष जो हैं अज्ञानी।
बुद्धि भेद नहिँ करैं कबहुँ तिनिमें नर ज्ञानी॥
शास्त्र विहित जो कर्म करैं तजि जीवन हिंसा।
निन्दैं तिनकूँ नहीं प्रेम तैं करैं प्रशंसा॥
स्वयं शास्त्र सम्मत करम, करै करावै सबनित।
करमनि तैं निरलिप्त है, अनासक्त बनि फलनितैं॥

कर्म तो प्रकृति द्वारा ही हो रहे हैं

[१४]

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते ॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥*

(श्री भग० गीता ३ अ० २७, २८ श्लोक)

छप्पय

कौन करम कूँ करै प्रकृति ही करम करावै।
जैसी जाकी प्रकृति काम तैसे करवावै ॥
सात्विक राजस और तामसिक गुन जितने हैं।
उनतैं होवैं करम भेद गुनके उतने है ॥
अहंकार मोहित भयो, जिनको अन्तःकरन है।
मैं करता हूँ करम को, मानें उनको भरम है ॥

---

* कर्म तो भैया ! सभी प्रकृति के गुणों द्वारा अपने आप ही हो रहे हैं। अहंकारी-विमूढ़ात्मा पुरुष-व्यर्थ मे ही "मैं करता हूँ" ऐसा मान लेता है ॥२७॥

हे महाबाहो ! जो गुण और कर्म के विभाग को जानता है, ऐसा तत्त्ववेत्ता पुरुष इस बात को मानकर आसक्त नहीं होता, कि ये सम्पूर्ण गुण गुणों में वर्त रहे है ॥२८॥

सत्व रज और तम जब ये तीनों गुण सर्वथा सम हो जाते हैं तभी समझो प्रकृति अब अपने यथार्थ रूप में आ गयी। तीनों गुणों की साम्यावस्था का ही नाम प्रकृति है, साम्यावस्था में वह निर्व्यापार बनी रहती है, कोई भी संसार का कार्य नहीं होता। जब प्रकृति के गुणों में क्षोभ होता है-गुणों में विषमता आती है-विकृति होती है, तभी संसार का व्यापार चालू हो जाता है। प्रकृति में क्षोभ क्यों होता है जी। मायावी की इच्छा से। यह मायावी कौन है। महेश्वर-परब्रह्म-ही सबसे बड़ा मायावी है। उसे क्षोभ करने की क्या पडी ? क्यों वह संसार के व्यापार में प्रवृत्त होता है—यह भी उसका अपना स्वभाव है। सबका स्वभाव दुस्त्यज है। यह संसार के सब व्यापार प्रकृति के ही द्वारा चल रहे हैं। सत्व प्रधाना प्रकृति कहाती है रज प्रधाना को माया कहकर पुकारते हैं, और तम प्रधाना को अज्ञता-अज्ञान-कहते हैं। एक ही के तीन नाम है। समस्त कर्म इन्हीं के द्वारा अपने आप हो रहे है। यह अहकारी प्राणी व्यर्थ में ही बिना बात अपने को कर्ता माने बैठा है।

एक राज-पथ पर गाड़ी जा रही थी। उसके नीचे एक कुत्ता भी चल रहा था। किसी ने कुत्ते से पूछा—"कूकर जी ! आप गाड़ी के नीचे क्यों चल रहे है ?"

कुत्ता बोला—"गाडी को चला रहा हूँ, मै न चलूँ, तो गाड़ी कैसे चलेगी ?"

गाड़ी हाँकने वाले गड़वारे ने कुत्ते की बात सुनी और उसके एक पैना कसके मारा। कूकरदेव कूं कूं करते कूदकर कोने में खड़े हो गये। गाड़ी फिर भी चलती रही। तब उस कूकर का भ्रम दूर हो गया, कि गाड़ी तो बैलों द्वारा स्वतः चल रही है। मैं चलाता हूँ, यह मेरा मिथ्याभिमान था।

आप सोचें—मनुष्य एक कण पृथ्वी बना सकता है ? एक बूँद पानी का निर्माण कर सकता है ? एक अग्नि विस्फुलिंग उत्पन्न कर सकता है ? वायु की लहर बना सकता है ? वह घास से बिना गौके पेट में गये दूध बना सकता है ? अन्न से बिना पेट में गये एक कण वीर्य, एक बिन्दु रज बना सकता है ? मनुष्य कुछ नहीं कर सकता। प्राकृत वस्तुओं में ही न्यूनाधिक मिलावट करके अहंकार करता है, मैंने वाष्पयान बना लिये मैंने वायुयान बना लिये, मैंने आकाशवाणी का आविष्कार कर लिया। अरे, बाबा ये पदार्थ तो सब प्रकृति जन्य है, अपनी ओर से कोई नवीन भूत बनाते, तब तुम्हारा बनाना भो कहा जाता। जिन हाथों से तुम बनाते हो, वे भी प्रकृति निर्मित हैं, जिस बुद्धि से विचार कर बनाते हो, वह भी प्रकृति का विकार ही मात्र है। पुरुष के शरीर में प्रकृति की प्रेरणा से वीर्य बिन्दु बनते है, स्त्री की देह में प्रकृति की प्रेरणा से रज बनती है, दोनों की प्रकृति प्रेरित करके गर्भाधान कराती है, प्रकृति ही उसे पेट में बढ़ाती है। प्रकृति जन्य प्रसूति मारुति उसे गर्भ से बाहर कर देती है। पोषण के लिये प्रकृति ही माता के स्तनों में दुग्ध उत्पन्न कर देती है। प्रकृति ज्यों-ज्यों उसे बढाती जाती है, त्यों-त्यों उसमें बाल्य, कौमार, पौगंड, किशोर, युवा आदि प्राकृतिक अवस्थायें और उनके अनुकूल ही हाव-भाव कटाक्ष स्वतः उत्पन्न होने लगते हैं। बीज में अनुकूल प्राकृति परिस्थितियाँ होने पर स्वतः ही अंकुर उत्पन्न हो जाता है। प्रकृति को निमित्त बनाकर मायावी महेश स्वयं ही क्रीड़ा कर रहा है। इसे ज्ञानी ही समझकर प्रमुदित होता है, अज्ञानी अपने को कर्त्ता मानकर मोहित हो जाता है, दुखी बन जाता है। ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर इतना ही है। जो कुछ हो रहा है प्रकृति के द्वारा स्वतः ही हो रहा है। कर्तृत्वा

भिमान मेटने का ही नाम साधन है।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने यह शंका की कि कर्म कैसे भी किये जायँ कर्ता को उन किये हुए कर्मों का कुछ तो फल भोगना ही पड़ेगा। इस पर भगवान् उन्हें समझाते हुए कह रहे हैं—"अर्जुन! कर्म कौन करता है।"

अर्जुन ने कहा—कर्म को तो कर्ता ही किया करता है।

भगवान् ने पूछा—कर्ता कौन है?

अर्जुन ने कहा—"जैसे मैंने युद्ध किया, तो युद्ध का कर्ता उसके फल का भोक्ता मैं ही हुआ।"

भगवान् ने कहा—"युद्ध तुमने किया, या धनुष बाण ने किया?"

अर्जुन ने कहा—"धनुष बाण भी तो मेरे ही हैं।"

भगवान् ने कहा—"तुम्हारे कैसे हैं, धनुष तो बाँस का है उसकी डोरी ताँत की है, बाण लकड़ी और लोहे का है।"

अर्जुन ने कहा—"भले ही इन वस्तुओं से बने हों, चलाने वाला तो मैं हूँ।"

भगवान् ने कहा—"तुम कहाँ चलाने वाले हो, हाथ चलाता है।"

अर्जन ने कहा—"हाथ भी तो मेरा ही है।"

भगवान् ने कहा—"हाथ तुम्हारा कैसे है? वह तो मांस का है मज्जा, अस्थि, रक्त आदि से निर्मित्त है।"

अर्जुन ने कहा—है तो मेरे ही शरीर का एक अंग।

भगवान् ने कहा—"शरीर तुम्हारा कैसे है, वह तो तुम्हारे माता-पिता के रजवीर्य से निर्मित है।"

अर्जन ने पूछा—"निर्माण किसने कराया?"

भगवान् ने कहा—"प्राकृत वस्तुओं से प्रकृति की प्रेरणा से समस्त कर्म माया के गुणों द्वारा सम्पन्न होते है।"

अर्जुन ने पूछा—"फिर लोग यों क्यों कहा करते हैं, कि यह मैने किया ?"

भगवान् ने कहा—"ज्ञानी ऐसी बात कभी नहीं कहता। किन्तु जिनका अंतःकरण अहंकार से अत्यन्त विमूढ़ बन गया है, वे ही अज्ञजन ऐसा कहते हैं, कि मै कर्ता हूँ। वे ही ऐसा मानते हैं, कि यह कार्य मेरे द्वारा किया हुआ है। प्रकृति के जो कार्य कारण रूप विकार हैं, उनके द्वारा जो लौकिक वैदिक आदि कर्म सम्पन्न होते है, उन कर्मों को अनात्म में आत्म बुद्धि करने वाले विमूढ़ पुरुष अपना किया हुआ मानते है, किन्तु विद्वान् ऐसा नहीं मानते।

अर्जुन ने पूछा—विद्वान् कैसा मानते हैं ?

भगवान् ने कहा—विद्वान् तो यही समझता है, कि पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ है पाँच ही उनके विषय हैं, वे इन्द्रियाँ अपने विषयों मे प्रकृति की प्रेरणा से वर्तती रहती हैं। जब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों में प्रवृत्त हो ही रही है, तो फिर वह अपने में कर्तृत्व का अभिनिवेश करेगा ही क्यों ? किन्तु इसे वही विद्वान् समझ सकेगा जो गुण कर्म के विभाग को जानता है।

अर्जुन ने पूछा—"गुण कर्म का विभाग जानने वाला किसे कहते है ?"

भगवान् ने कहा—अहंकार के आश्रय हैं देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण। मैं मोटा हूँ, मै दुबला पतला हूँ। मेरी कर्मेन्द्रियाँ पुष्ट है, असमर्थ है। मेरा मन आज दुखी है सुखी है, मेरा चित्त विक्षिप्त हो गया था, अब चित्त प्रसन्न है, मेरी बुद्धि विलक्षण है। आदि-आदि अहंकार सदा देह इन्द्रिय और अतःकरण के आश्रय से ही होता है। इन देहादि के जो व्यापार हैं वे ही कर्म

कहलाते हैं। इन गुण कर्मों का जो विभाग कर दे। यह जड़ है चैतन्य है यह विकारी है यह निर्विकार है। इसका यथार्थ स्वरूप जानता है, वह गुणकर्म विभाजक तत्ववेत्ता है। वह प्रकृति के किये हुए गुणों में और कर्मों में अपने को कर्ता नहीं मानता।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यहाँ तक तो भगवान् ने यह बताया कि कर्म तो प्रकृति द्वारा होते ही रहते हैं, उन्हें न करने का और करने का दुराग्रह अज्ञानी ही करते हैं। ज्ञानी तो साक्षी रूप से उन्हें देखता हुआ उदासीन भाव से कर्तव्य कर्मों को करता रहता है। वह दुराग्रह नहीं करता कि कर्मों को छोड़ना ही चाहिये, किन्तु अज्ञ पुरुष आलसी अकर्मण्य न बन जायँ, उनमें बुद्धि भेद न हो जाय, इसलिये निष्काम कर्मों को पूर्ण ज्ञानी होने पर भी करता ही रहता है। यही निष्काम कर्मयोगी की विशेषता है। इसका वर्णन भगवान् आगे करेंगे।

छप्पय

किन्तु तत्त्ववित गुण विभाग कूँ विधिवत जानें।
जानें कर्म विभाग महाबाहो! वह मानें॥
बरति रहे गुन गुननि आतमा इनतें न्यारो।
है असंग निरलेप अकर्ता नित्य विचारो॥
मन इन्द्रिय चित बुद्धि सब, विषयनि में बरतत रहत।
होवै नहिँ आसक्त मुनि, शुद्ध बुद्ध आत्मा सतत॥

ज्ञानी पुरुष अज्ञों को कर्मों से विचलित न करे

[१५]

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥*

(श्री भग० गी० ३ अ० २९, ३० श्लो०)

छप्पय

प्रकृति गुननि में लिप्त अज्ञ नर करम करें जो ।
गुन करमनि आसक्त कर्म फल हित करते सो ॥
बरति रहे गुन गुननि रहस्य न जाको जानें ।
फिरि हू श्रद्धा सहित वेद शास्त्रनि कूँ मानें ॥
तिनि तैं करम छुड़ाइकें, नहिँ विचलित ज्ञानी करत ।
छोड़ो करम सकाम तुम, नहिँ तिनि तैं हठवश कहत ॥

---

* ये प्रकृति के गुणों से सम्मूढ पुरुष गुण और कर्मों में आसक्त रहते ही हैं, ऐसे भली-भाँति न समझने वाले अज्ञ पुरुषों को भली-भाँति जानने वाला विज्ञ पुरुष विचलित न करे ॥२९॥

आध्यात्मचित्त से मुझमें सम्पूर्ण कर्मों को समर्पण करके आशा-रहित निर्मम तथा संताप-रहित होकर युद्ध कर ॥३०॥

कर्म के आधार पर ही यह सृष्टिचक्र चल रहा है। प्रभु की प्रेरणा से ही प्रकृति सब कर्मों को करा रही है। प्राणी गुणों के प्रवाह में ऐसे बह रहे हैं, कि उन पर कर्म किये बिना रहा ही नहीं जाता। तुम उनको बहुत समझाओ कि यह कर्म बन्धनकारक है, इससे संसार में पुनः पुनः आवागमन होगा, जन्म मृत्यु के चक्कर में फँस जाओगे, किन्तु लोग मानते ही नहीं। हम कर्म न करेंगे, तो संसार कैसे चलेगा। घर गृहस्थी चौपट हो जायगी, बाल बच्चे अनाथ की भाँति मारे-मारे फिरेंगे। घर का सब ढाँचा बिगड जायगा। उन्हें तुम बहुत समझाओ, कि तुमने कुछ संसार का ठेका तो ले नहीं रखा है, न संसार को तुमने बनाया ही है। ब्रह्माजी ने इसे बनाया है, वे इसकी चिन्ता करेंगे। कौन किसका पुत्र, कौन किसकी पत्नी। जैसे प्याऊ पर कुछ देर को यात्री एकत्रित होते है। साथ-साथ खाते-पीते है, विश्राम करते है। समय आने पर सब अपना-अपना रास्ता लेते हैं, क्यों तुम बाल बच्चों के लिये मर रहे हो, क्यों घर बनाने की चिन्ता में मग्न हो, सब यहाँ का यहीं रखा रह जायगा। इसलिये कर्मों के झंझटों को छोड़ दो। निरन्तर प्रभु चिन्तन में निमग्न रहो। भगवान् आपके योगक्षेम का सब प्रबन्ध स्वतः ही करेंगे।

ये सब बातें सच्ची हैं, संसार में कौन किसका सगा सम्बन्धी है, सब स्वारथ के मीत हैं लोग नित्य देख भी रहे हैं। अपने देखते-देखते कितने पैदा हुए, कितने मर गये। कितने बच्चे से बूढे हुए, कितने बूढ़े परलोकवासी हो गये। मनुष्य देखता हुआ भी अंधा बना रहता है। यही भगवान् की माया है, यही प्रकृति का खेल है। देह और इन्द्रिय तथा अन्तःकरण के गुणों में आसक्त प्राणी दिन-रात्रि कर्मों में ही अन्धा होकर जुटा रहता है, उसे तुम कर्मों के दोष बताकर कर्मों से निवृत्त करदो। तो वह ज्ञाना

तो हो नहीं सकता। आलसी प्रमादी बन जायगा-उभय भ्रष्ट-हो जायगा। जब प्राणियों को कर्मों में स्वाभाविकी आसक्ति है, तो ज्ञानी को चाहिये उन्हें कर्मों से हटावे नहीं। शनैः शनैः उनके भावों में परिवर्तन करदे! उनकी आसक्ति-स्पृहा-को मेट दे। उन्हें मन से निष्काम तथा निस्पृह बना दे। वास्तव में कर्म बन्धन के कारण नहीं हैं। उनमें जो आसक्ति हो जाती है विषयों में भोगेच्छा बढ़ जाती है, बन्धन का कारण यही है। इसलिये ज्ञानी को चाहिये कि स्वयं भी निष्काम भाव से करम करते हुए शनैः शनैः उन कर्मासक्त पुरुषों की भावना को बदल दे। हाथी पकड़ने वाले एक सिखायी पढ़ाई पालतू हथिनी को जंगली हाथियों के झुंड में छोड़ देते हैं। वह पालतू हथिनी सब काम उन झुंड के हाथियों के समान ही करती है, किन्तु उसके कार्य करने का अभिप्राय उनके समान कर्म करना नहीं है, उनमें से किसी को फँसाकर अपने जैसा बनाना है। इसी प्रकार ज्ञानी कर्मासक्तों के साथ रहे, उनके सदृश कर्म में भी लगा रहे, किन्तु कर्मों को विषय भोगों की कामना से न करे। प्रभु की सेवा समझकर-समर्पण भाव से-कर्म करता रहे। इससे जो उन कर्मासक्त लोगों में मुमुक्षु होंगे, वे कर्म के रहस्य को समझकर निष्काम कर्मयोगी बन जायँगे। ज्ञानी का और अज्ञानी का ऊपर से देखने में कर्म एकसा ही प्रतीत होगा, किन्तु अज्ञानी तो गुण कर्मों में आसक्त होकर भौतिक दृष्टि से कर्म करेगा और ज्ञानी सब कर्मों को भगवान् के अर्पण करता हुआ आध्यात्म भाव से करेगा। वह जो भी करेगा। भगवान् के ही निमित्त करेगा। इस विषय में एक दृष्टान्त है—

कोई साधक एक महात्मा के समीप गया। साधक शरीर से हृष्ट-पुष्ट था। उसे आध्यात्म ज्ञान की जिज्ञासा हुई। कर्मों में

तो उसकी स्वाभाविक आसक्ति थी ही। जाकर महात्मा के चरणों में प्रणाम किया।

महात्मा ने कुशल प्रश्न पूछने के अनंतर पूछा—"कहो भाई, कैसे आये?"

साधक ने कहा—"भगवन्! मै परमार्थ की जिज्ञासा से आया हूँ, मुझे कोई ऐसा साधन बता दीजिये, जिससे मैं परमपद का अधिकारी बन सकूँ।"

गुरु ने कहा—"तुम बिना कुछ किये, निश्चल भाव से चुपचाप बैठ सकते हो?"

साधक ने कहा—जन्म से ही कार्य करने का स्वभाव है, एकदम चुपचाप कितनी देर बैठ सकता हूँ। कुछ साधन बतावें।

गुरु ने कुछ देर तक सोचा और फिर बोले—"तुम दिन भर दंड बैठक करते रहो, और मन में यह भावना रखो, कि मैं भगवान के लिये बैठक लगा हूँ।"

साधक ने कहा—"महाराज, दंड बैठक कब तक लगाऊँगा कोई इससे सरल उपाय बतावें।"

गुरु ने कहा—"अच्छा, तुम दौड़ लगाते रहो, किन्तु इस भावना से दौड़ों, कि मै प्रभु को पाने के लिये दौड रहा हूँ।"

साधक ने कहा—"भगवन्! दौड़ते-दौड़ते तो थक जाऊंगा कोई और सरल उपाय बतावें।"

गुरु ने कहा—"अच्छा, धीरे-धीरे चलते ही रहा करो, किन्तु यह निश्चय करके चलो कि मैं भगवान् के लिये चल रहा हूँ।"

साधक पूछा—"प्रभो! कोई बैठे-बैठे करने का नही है?"

गुरु ने कहा—"हाँ, है क्यों नहीं, तुम यही सोचकर बैठे रहो, कि मैं भगवान् के लिये बैठा हूँ।"

साधक ने कहा—"बैठा कब तक रहूँगा, किसी मंत्र का जप नहीं कर सकता।"

गुरु ने कहा"—कर क्यों नहीं सकते। भगवान् के अनन्त नाम हैं, अनंत मन्त्र हैं। जो तुम्हें अच्छा लगे उसी का जप करते रहो, किन्तु भावना यही बनी रहे कि मैं भगवान् के लिये जप कर रहा हूं।"

साधक ने पूछा—"स्वामिन्! आप तो बार-बार भावना पर ही बल दे रहे हैं। कोई क्रिया बताइये, जिसके करने से अन्तःकरण शुद्ध हो।"

गुरु ने कहा—"क्रिया भी तो भैया भावना से ही की जाती है। सकाम भावना से भी क्रिया होती है, निष्काम भावना से भी क्रिया होती है। अज्ञानी पुरुष कर्मों में आसक्त होकर विषय भोगों की कामना से क्रिया करते हैं। ज्ञानी पुरुष निष्काम भाव से निराशी और निर्मम होकर भगवत् सेवा समझकर क्रिया करते हैं जो क्रिया भगवान् के लिये न होकर विषयों की प्राप्ति के लिये है, वह तो बन्धनकारक है, और जो प्रभु की पूजा के निमित्त क्रिया है, वह मुक्ति का साधन है। अतः जो भी क्रिया करो भगवान् के लिये करो जो करो उसे भगवत् अर्पण बुद्धि से करो। यही निष्काम कर्म योग है।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् श्री कृष्ण जी निष्काम कर्म योग का उपदेश करते हुए अर्जुन से कह रहे है—अर्जुन! ये जितने भी प्राणी हैं, सबके सब माया के गुणों से अत्यन्त विमूढ़ बने हुए हैं। ये सब निरन्तर कर्मों में लगे रहते हैं। नहाओ धोओ, शौच कर्म करो, भोजन करो, बाल बनवाओ, बाल काढ़ो शृंगार करो, वस्त्रों को धोओ, उन्हें सजाओ। ये सब देह की क्रियायें हैं। इसी प्रकार उठना बैठना, चलना फिरना, देखना,

भालना, सूंघना, चखना आदि इन्द्रियों की क्रियायें हैं, तथा चिन्तन करना, मनन करना निश्चय करना ये अन्तःकरण की क्रियायें हैं। प्रकृति के जितने गुण हैं, उनके कर्मों में मूर्ख लोग आसक्त बने ही रहते हैं, क्योंकि यह शरीर ही प्रकृति निर्मित है। मिट्टी का बना घर मिट्टी से ही ल्हेसा लीपा जाता है, प्रकृति निर्मित देह में प्रकृति क्रियाओं का होना स्वाभाविक ही है।"

अर्जुन ने कहा—"तब तो भगवन् ! ज्ञानी को चाहिये कि उन कर्मासक्त विमूढ़ पुरुषों को कर्मों से हटावे। जो कर्म उन्हें संसार-चक्र में फँसाये हुए हैं, उनका तो त्याग कराना ही श्रेयस्कर है।

भगवान् ने कहा—"अरे, भैया, कर्म थोड़े ही बाँधते हैं। बाँधने वाली तो भोग वासनायें ही है। केवल वासना के बदलने की आवश्यकता है। अब तो वे कर्मों में श्रद्धा रखकर प्रकृति के गुण कर्मों में बंधे हुए कर्म कर तोभी रहे है। ज्ञानी ने यदि उन्हें कर्मों से छुड़ा दिया, तो कर्म की श्रद्धा वाले व्यक्ति विचलित बन जायँगे। इधर-उधर दोनों ओर से गिर जायँगे। अतः परिपूर्ण ब्रह्म के ज्ञाता विद्वान को चाहिये कि उन अनात्मज्ञों में बुद्धि भेद न डाले। उन्हें कर्मों से विचलित न करे।"

अर्जुन ने पूछा—"कर्म तो प्रकृति के गुण कर्मों में आसक्त अज्ञानी ही करते है। ज्ञानी तो इन कर्मों से सर्वथा दूर ही रहता होगा ? वह तो कर्म नहीं करता होगा ?"

भगवान् ने कहा—"यही तो मैं बता रहा हूँ। ज्ञान हो जाने पर भी ज्ञानी को कर्म करते ही रहना चाहिये।"

अर्जुन ने पूछा—"तब मेरे लिये भगवन् ! क्या आज्ञा है ?"

भगवान् ने कहा—"तुमको बार-बार तो बता दिया है, तुम युद्ध करो, किन्तु प्रकृति के गुण कर्मों में संमूढ होकर किसी फल की प्राप्ति की इच्छा से नहीं, भौतिक भावना से नहीं। अध्यात्म

बुद्धि से ब्रह्मात्म भाव से तथा तुम जो भी करो सबको मुझे ही अर्पण करते हुए फल को इच्छा न रखते हुए युद्ध रूपी कर्म को करो। परन्तु सावधान उसमें ममता का भाव न होने पावे शोक मोह का लेश मात्र भी न हो। तुम्हें जो युद्ध की वीभत्सता देखकर ज्वर सा आ रहा है, शरीर काँप रहा है, रोयें खड़े हो रहे हैं, इस भाव को त्यागकर, प्रसन्नता पूर्वक युद्ध करो, कि में धनुष-बाणों द्वारा ही प्रभु का पूजन अर्चन कर रहा हूँ, उनकी स्वधर्म पालन रूप पूजा कर रहा हूँ। तुम्हारे प्रतिपक्षी तो विजय की अभिलाषा से लड़ रहे है, तुम सुख दुख लाभ अलाभ, जय पराजय को समान समझकर मेरी पूजा मानकर युद्ध करो। तुम्हें किसी प्रकार का भी पाप नहीं लगेगा। मेरी बात मान लो। मेरी बात न मानोगे तो पछिताओगे।"

अर्जुन ने कहा—आपकी बात न मानने से क्या परिणाम होगा?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार से अर्जुन को समझा रहे है। अन्वय-भगवत् आज्ञा-तो यह हुई कि तुम निष्काम कर्मयोग का अनुष्ठान करो। व्यतिरेक-कर्म न करने में जो दोष होगा उसका वर्णन वे आगे करेंगे।"

छप्पय

अरजुन! मोमें चित्त लगाओ मति घबराओ।
जिन-जिन करमनि करो मोई अरपन करवाओ॥
फल की आशा नहीं कबहुँ हिरदे में लाओ।
विषयनि ममता त्यागि ब्रह्ममें चित्त लगाओ॥
राग द्वेष ममता अहं, तजि निज करतब जानिकें।
युद्ध करो भय मति करो, ताप रहित निज मानिकें॥

सर्व कर्म समर्पण का फल

[१६]

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥*
(श्री भग० गी० ३ अ० ३१, ३२ श्लो)

छप्पय

मेरी मत इसपष्ट जाइ मानव जे धारें।
दोष दीठि तें रहित हिये में श्रद्धा धारें॥
मम मत को अनुसरन करें फल अरपन करिकें।
श्रद्धा भक्ति समेत चित्त मोई में धरिकें॥
ते ह्वै जावें मुक्त सब, नहीं होहि करमनि व्यथा।
तू तो मेरो मित्र है, अरजुन तेरी का कथा॥

---

* जो भी अनिन्दक श्रद्धालु पुरुष मेरे इस मत के अनुसार सदा ही वर्ताव करते हैं, वे पुरुष सम्पूर्ण कर्म बन्धनों से विमुक्त बन जाते हैं ॥३१॥

और जो निन्दक मूर्ख लोग मेरे इस मत के अनुसार आचरण नहीं करते ऐसे सर्व ज्ञान–विमूढ पुरुषों को तू नष्ट हुआ ही समझ ॥३२॥

सर्व कर्म समर्पण यह एक ऐसा योग है, कि कर्म करते हुए भी उनके फलों से अपना कोई प्रयोजन नहीं। एक किसी व्यापारी के यहाँ मासिक वेतन पर कोषाध्यक्ष है। लाखों रुपये उसके हाथ में नित्य आते हैं, लाखों रुपयों को वह भिन्न-भिन्न कार्यों में व्यय करता है। स्वामी के व्यापार में कभी लाखों का लाभ हो जाता है, कभी लाखों का घाटा भी होता है। उसको लाभ से कोई विशेष सुख नहीं घाटे से विशेष दुख नहीं। अधिक आय से हर्ष नहीं, अधिक व्यय से विषाद नहीं। उसे तो नियत मासिक वेतन से प्रयोजन है। अधिक आय अधिक व्यय-अधिक लाभ अधिक हानि के परिणाम से-फल से-उसका कोई विशेष प्रयोजन नहीं। यह भी नहीं कि घाटा होने पर वह कोई दूसरे कार्य को करने लग जाय, वह तो कर्तव्य बुद्धि से अपने कर्तव्य कर्म को करता ही रहेगा। वह तो जो भी लाभ अलाभ प्राप्त होता है, सब को अपने स्वामी को अर्पण कर देता है। जो केवल कर्तव्य कर्म को तो करता रहता है, फल को भगवद् अर्पण कर देता है, वह सुख दुख में, लाभ अलाभ में और जय पराजय में समभाव से रहता है। यह कितना अच्छा निष्काम कर्मयोग है। कर्तव्य कर्म भी होते रहते हैं, निष्क्रिय बैठना भी नहीं पड़ता, लोक संग्रह भी होता जाता है, और सहज ही मुक्ति का-परमपद का-अधिकारी भी बन जाता है। मान लो कभी भूल से कर्तव्य कर्म करते हुए फल की इच्छा हो भी गयी तो पतन तो न होगा, कर्तव्य कर्मों के करने के परिणाम स्वरूप उसे स्वर्ग की ही प्राप्ति तो होगी। इसीलिये भगवान् बारम्बार कर्तव्य कर्मों को निष्काम भाव से करते रहने पर ही अत्यधिक बल देते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् से जब अर्जुन ने पूछा—कि महाराज, दो निष्ठाओं में से मेरे लिये जो अनुकूल

हो उसे बताइये। तब भगवान् ने अर्जुन को समझाना आरम्भ किया—"देखो, भैया, कर्म न करने मात्र से ही कोई मोक्ष का अधिकारी नही बन जाता–केवल गेरुवा वस्त्र पहिन कर संन्यास का ढोंग बनाने से ही सिद्धि नही मिल जाती। निष्काम भाव से-ईश्वर अर्पण बुद्धि से–बिना फल की इच्छा रखे–जो कर्तव्य कर्मों को करता रहता है, वही सच्चा योगी है, वही साधक है। केवल इसी एक विषय को अनेक युक्तियों से समझाते-समझाते अन्त में यह स्पष्ट कह दिया कि तुम आध्यात्म बुद्धि से समस्त कर्मों को मेरे अर्पण करके शोक, ममता और आशा को त्याग कर जो तुम्हारा इस समय प्राप्त धर्म युद्ध है, उस युद्ध को करो। यह मेरा निश्चित मत है।"

इस पर अर्जुन ने शंका की—"प्रभो ! सब लोगों को शास्त्र ज्ञान की इतनी भारी अनुभूति हो नहीं सकती, क्योंकि शास्त्र अनन्त हैं, और उनमें भी परस्पर विरोधी से वचन दृष्टि गोचर होते हैं उन सब को पढ़कर उनकी संगति लगाना सर्व साधारण के लिये सम्भव नहीं। ऐसे लोगों के लिये भी कोई उपाय है ?"

भगवान् ने कहा—"उपाय क्यों नहीं है, शास्त्रकारों ने तो सभी प्रकार के अधिकारियों का निर्वाह किया है। साधन में एक सबसे बड़ा विघ्न है 'असूया'। असूया उसे कहते है जो गुणों में भी दोष निकालते है। दूसरो के मत का एक मात्र खडन करना ही जिनका उद्देश्य रहता है। जिसमें यह 'असूया' रूपी दुर्गुण न हो, और जो श्रद्धावान् हो। शास्त्र और आचार्य द्वारा की हुई बात में विश्वास करने का नाम श्रद्धा है। गौ का मूत्र पवित्र है यह शास्त्र का वचन है, इस पर श्रद्धा रखकर गो मूत्र का पान करे। जो ऐसा न करके कहे—अरे, पशु का मूत्र नहीं पीना चाहिये। यही असूया है। यद्यपि चाहे उह विषय की हमें

स्वयं अनुभूति न भी हो, किन्तु शास्त्र कह रहा है, हमारे आचार्य देव की आज्ञा है, ऐसी भावना रखकर जो श्रद्धाभक्ति पूर्वक कार्य करता है वह भी मेरे इस उपदेश को सुनकर सब कर्मों को अर्पण करता हुआ निष्काम भावना से कर्म करता रहता है, वह भी कर्मों से मुक्त होकर मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। यह मेरा निश्चित मत है।

अर्जुन ने पूछा—"अच्छा, भगवन्! जो लोग आपके इस मत का आदर न करके सकाम कर्मों का ही आग्रह करें अथवा केवल बनावटी संन्यास के ही लिये बहुत बल दें। आग्रह पूर्वक कर्तव्य कर्मों का परित्याग करके निष्क्रिय बन जायँ, उनकी क्या दशा होगी।"

अर्जुन का ऐसा प्रश्न सुनकर सदा प्रसन्न रहने वाले भगवान् वासुदेव को कुछ रोष आ गया। वे रोष के आवेग में कुछ ऊँची वाणी में कहने लगे—"अर्जुन! जो अश्रद्धालु लोग मेरे वचनों पर विश्वास नहीं करते और मेरे कार्यों में दोषों का आरोप करते हैं, कि अर्जुन को युद्ध रूपी कैसे वीभत्स कार्य में श्रीकृष्ण लगा रहे है, ऐसे दुष्ट चित्त वाले पुरुष सर्वज्ञान विमूढ़ हैं। सर्व स्वरूप मैं ही परब्रह्म हूँ, वे अज्ञानी मेरे ज्ञान से वञ्चित रह जाते हैं। वे मेरे बताये हुए मत का अनुष्ठान नहीं करते, तो उन अज्ञानियों को तुम परम पुरुषार्थ से भ्रष्ट ही समझो। अरे, जिसका जो स्वभाव है, उसी के अनुसार तो काम करेगा। केवल उसमें कर्तव्य बुद्धि होना कामना की इच्छा न करना और उसे मेरे अर्पण कर देना, इतना ही कौशल है। इस कौशल के साथ जो कर्म करेगा तो कर्म करते हुए भी कर्मों के बन्धन में न फँसेगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवान् ने अन्वय

और व्यतिरेक द्वारा अपने निष्काम कर्म योग का फल बताया। अब आगे भगवान् इस बात को बता रहे हैं, कि सब अपनी प्रकृति से विवश होकर ही कर्मों में प्रवृत्त हो रहे हैं। इसका वर्णन आगे किया जायगा।

छप्पय

मोमें देखें दोष न मोमें श्रद्धा लामें।
नित-नित निन्दा करें मोइ ढोंगी बतलामें॥
नहीं करें अनुकरन न मेरे मत कूं मानें।
नहिं ममता आसक्ति तजें भोगहिं सुख जानें॥
अज्ञानी मूरख सकल, ज्ञान रहित आसक्त हैं।
सब धरमनि तैं बहिष्कृत, मूढ़ अज्ञ ते नष्ट हैं॥

ज्ञानी भी प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करता है

[१७]

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥*

(श्रीभ० गी० ३ अ०, ३३, ३४ श्लोक)

छप्पय

प्रकृति करावै करम प्रकृति के वश सब प्रानी।
है स्वभाव तैं विवश करैं ज्ञानी अज्ञानी॥
करनो चाहें नहीं प्रकृति वरबस करवावै।
जो स्वभाव प्रतिकूल पास ताके नहिं जावै॥
अज्ञानी की बात का, ज्ञानी हू ह्वैके अवश।
करै अनुसरन प्रकृति को, हठ न चलै जामें विवश॥

---

* ये सभी प्राणी अपने स्वभाव से विवश होकर कर्म कर रहे हैं, यहाँ तक कि ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करते हैं, इसमें कोई आग्रह क्या करेगा ? ॥३३॥

इन्द्रिय और इन्द्रियों के विषय भोगों में रागद्वेष छिपे हैं। मनुष्य इन राग द्वेष के वश में न हो, क्योंकि दोनों ही मोक्ष मार्ग में विघ्नकारक और शत्रु हैं ॥३४॥

एक मनुष्य जब उत्पन्न होता है, उसके उत्पन्न होते ही बाजे-बजते हैं, मंगल होते हैं। उसका लालन-पालन अनेक पुरुषों की देख-रेख में होता है। उसकी सुख सुविधा की वस्तुएं प्रथम ही प्रस्तुत रहती हैं, इसके विपरीत एक उत्पन्न होते ही अन्न के लिये तरसता है, कोई उसकी ओर ध्यान ही नही देता। उसे एक-एक वस्तु के लिये परमुखापेक्षी बनना पड़ता है। यह क्या बात है, आप कहेंगे यह तो सामाजिक विषमता का कुपरिणाम है। जब साम्यवाद हो जायगा, तब यह भेदभाव नही रह सकता, किन्तु साम्य में तो प्रलय है, विषमता में ही सृष्टि का चक्र चल सकता है। जैसी साम्यता की आप कल्पना करते है, वैसी साम्यता कभी हो ही नहीं सकती। एक बालक पैदा होते ही दुबला पतला निर्बल है, दूसरा पैदा होते ही हृष्ट-पुष्ट तथा सबल है। एक पैदा होते ही स्वरूपवान् है, एक पैदा होते ही, कुरूप है। एक पैदा होते ही लम्बा-चौड़ा सुगठित है, एक पैदा होते ही ठिंगना बेढंगा है। इन विपरीतताओं का समाधान तब तक नही हो सकता जब तक कि आप पुनर्जन्म के सिद्धान्त को न मानें। पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण ही ऐसी विभिन्नता हुआ करती है।

पूर्वजन्म में जिसने धर्म कर्म किये होंगे, उसकी जन्म से ही प्रवृत्ति धार्मिक कार्यों में रहेगी। पूर्व जन्मों में जिसने अधर्म-कर्म किये होंगे, उसको स्वाभाविक प्रवृत्ति अधर्म के ही कार्यों में होगी। पूर्वजन्म में जिसने ज्ञानार्जन किया होगा, वह जन्म से ही ज्ञानवान् होगा। पूर्वजन्म में जैसी इच्छायें उसकी रही होंगी, वर्तमान जन्म में उन्हीं की अभिव्यक्ति प्रतीत होगी। पूर्वजन्म के संस्कार ही इस जन्म में अपने आप उन्हीं संस्कारों में प्रवृत्त करते है। हमने बहुत छोटे ऐसे बच्चों को देखा है, कि वे ५, ६ वर्ष की अवस्था में ही संगीत में ऐसे पारंगत हो जाते हैं, कि बड़े-बड़े

संगीताचार्य भी उन्हें देखकर विस्मित हो जाते हैं, कोई बच्चे बहुत ही छोटी अवस्था से इंजन के कल पुर्जों की इतनी भारी जानकारी रखते हैं, कि बड़े-बड़े मिस्त्री भी उतनी नहीं रखते। एक ही कक्षा में सैकड़ों विद्यार्थी पढ़ते हैं, एक तो सुनते ही याद कर लेता है वह एक वर्ष में दो-दो तीन-तीन कक्षाओं को धड़ाधड़ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण करता चलता है। दूसरा ४ वर्ष में भी दिन-रात्रि परिश्रम करने पर भी उत्तीर्ण नहीं होता। इससे यही निष्कर्ष निकला कि इस जन्म में पूर्वजन्म की प्रकृति पूर्वजन्म का स्वभाव ही कारण है। जैसे आप एक पुस्तक को आधी पढ़कर सो गये, तो दूसरे दिन उठकर आप को वह पुस्तक फिर से न पढ़नी पड़ेगी। जहाँ तक कल पढ़ गये थे उससे आगे से ही पढ़नी होगी। सोते समय तुम पढ़े-लिखे सबको भूल गये थे, जागने पर फिर वह पूर्व का पढ़ा हुआ स्मरण हो आया। इसी प्रकार मृत्यु भी एक प्रकार निद्रा ही है। "मृत्युरत्यंत विस्मृतिः" सोने में थोड़ी देर को विस्मृति होती है, इसी शरीर से जागने पर स्मृति हो आती है। मृत्यु में विस्मृति कुछ अधिक काल तक रहती है, दूसरा शरीर पाने पर पूर्वजन्म की स्मृति होती है। पूर्वजन्म के जैसे संस्कार रहे होंगे, पूर्वजन्म में जैसी प्रकृति रही होगी, वैसी ही प्रकृति इस जन्म में भी रहेगी। इसीलिये तो पूर्वजन्म में जिन्होंने मुक्ति के लिये प्रयास किया है, उन्हें ज्ञान होने पर या भगवत् साक्षात्कार होने पर मुक्ति अथवा भगवल्लोक की प्राप्ति हो जाती है। साधारणतया भगवत् दर्शन होने के अनन्तर जीव का पुनर्जन्म नहीं होता। वह जन्म-मृत्यु के चक्र से छूट जाता है। किन्तु राजर्षि मुचुकुन्द को तो भगवान् के साक्षात् दर्शन हो गये थे। भगवान् ने उनसे बारंबार वर माँगने को कहा। इतने पर भी उन्होंने कोई संसारी कामनाओं के पूर्ण करने का वर नहीं

माँगा। यही कहा आप मुझ शरणागत की रक्षा कीजिये।" इससे भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और अपने आप ही उन्हें वरदान दिया— "राजन्! तुम्हारी मति बड़ी सुन्दर है, तुम्हारा निश्चय बड़ा पवित्र है, मुझमें तुम्हारी विषय वासना शून्य निर्मल भक्ति सदा बनी रहेगी। तुमने इस जन्म में क्षत्रिय धर्म का पालन करते समय, शिकार आदि के अवसरों पर बहुत से पशुओं का वध किया है। अब एकाग्रचित्त से मेरी उपासना करते हुए, तपस्या के द्वारा उन पापों को धो डालो। महाराज! आप अगले जन्म में ब्राह्मण बनोगे और समस्त प्राणियों के सच्चे हितैषी परम सुहृद् होओगे तथा फिर मुझ विशुद्ध विज्ञान घन परमात्मा को प्राप्त करोगे।"

अब बताइये। भगवत् साक्षात्कार होने पर भी पाप शेष रह गये क्या? भगवान् ने इसी जन्म में उन्हें मुक्ति क्यों नहीं दे दी? एक जन्म का झंझट और क्यों लगा दिया?

बात यह है, कि भगवान् तो जैसी जिसकी निष्ठा होती है; वैसा ही उसको फल देते हैं। महाराज मुचुकुन्द कर्म निष्ठा वाले थे, वे यज्ञ यागादि करके अपने वर्णाश्रम के अनुरूप कर्मों में सदा लगे रहे। युद्ध में भी उन्होंने प्राणियों का वध किया और मृगयादि में भी। फिर भी अपने वर्णाश्रम धर्म का ही पालन करते रहे। भगवान् ने उन्हें वर्णाश्रम के विहित ही वरदान दिया। क्षत्रिय को संन्यास का अधिकार नहीं और कर्म मार्ग में संन्यास के बिना मुक्ति नहीं। वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए भी वे भगवत् भक्त थे। भगवान् ने दोनों का ही निर्वाह कर दिया। एक जन्म की क्या बात है। तपस्या से पूर्व-जन्म के हिंसादि पाप भी कट जायँगे अन्त में भगवत् प्राप्ति भी हो जायगी, क्योंकि चाहे कितना भी ज्ञानी हो, कितना भी भगवत्

भक्त क्यों न हो पूर्वजन्म की प्रकृति इस जन्म में अनुसरण करती ही है।

सूतजी कहते है—मुनियो! भगवान् जैव धर्म का वर्णन करते हुए बता रहे हैं—"अर्जुन! तुम सोचते होगे, कि आप तो इस चराचर विश्व के स्वामी हो और आप अपने मत की डंके की चोट घोषणा कर रहे हो, राजा की भाँति आज्ञा भी देते हो जो श्रद्धावान् और दोष दृष्टि से रहित होकर सर्वदा मेरे इस मत का आचरण करते है, वे भी कर्मों से मुक्त हो जाते हैं।" और न करने वालों को भयभीत करते हुए उनकी घोर निन्दा करते हुए यह भी आज्ञा दे रहे हैं—"कि जो निन्दक मेरे मत का आचरण नहीं करते वे दुष्ट, अज्ञानी महामूढ़ समस्त पुरुषार्थ से भ्रष्ट हो जायँगे।" इतना होने पर भी प्राणी आपकी आज्ञा का पालन क्यों नहीं करते? आपकी बात क्यों नहीं मानते।"

इस पर भगवान् हँस पड़े और कुछ ठंडे होकर मुसकराते हुए बोले—अर्जुन! क्या बतावें, चाहे कितना भी ज्ञानी पुरुष क्यों न हो, वह भी पूर्व जन्म की प्रकृति के अनुसार विवश होकर इस जन्म में अपनी प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करता है। ये प्राणी प्रकृति का ही अनुसरण करते है। इसमें निग्रह अनुग्रह आज्ञा अनुज्ञा से काम चलने का नहीं। प्रकृति उन्हें बलात् पूर्वजन्मों के संस्कारानुसार प्रेरित करती है।

नही तो धृतराष्ट्र के समान ज्ञानी कौन है, कितने विवेकी कितने साधु सेवी हैं। साक्षात् धर्म के अवतार विदुर जी जिनके सम्मति दाता उनकी भी बुद्धि कैसी हो गयी है, जब अक्रूर जी ने आकर उन्हें बहुत फटकारा तो उन्होंने यथार्थ ही कह दिया था—अक्रूर जी! सुना है, सर्वशक्तिमान् भगवान् ही पृथ्वी का भार उतारने के निमित्त यदुकुल में उत्पन्न हुए हैं, ऐसा कौन है जो उनके

विधान में उलट फेर कर सके। उनकी जैसी इच्छा होगी वही होगा। भगवान् की माया का मार्ग अचिन्त्य है। उसी माया के द्वारा इस संसार की सृष्टि करके वे इसमें प्रवेश करते हैं तथा कर्म और कर्म फलों का विभाजन करते हैं। इस संसार चक्र की बेरोकटोक चाल में उनकी अचिन्त्यलीला शक्ति के अतिरिक्त और कोई कारण नहीं है।" सो, अर्जुन! धृतराष्ट्र ने मेरी प्रकृति की ही महिमा गाकर अपने को उसके अधीन होकर वर्ताव करने को विवश बताया।

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! तब तो अपना कोई कर्तव्य ही न रहा। जब सब काम प्रकृति के ही अनुसार हो रहे हैं, और उसमें निग्रह करने से भी काम नहीं चलता, तब तो लौकिक वैदिक पुरुषार्थ का कोई विषय ही न रहा। फिर यह विधि है यह निषेध है, शास्त्र के ऐसे वचन व्यर्थ हो है।

इस पर भगवान् ने कहा—"तुम ठीक कहते हो, यद्यपि सब प्रकृति के ही अनुसार वर्ताव कर रहे है, किन्तु उन भोग्य पदार्थो के प्रति स्पृहता निस्पृहता रागद्वेष के भाव न होने चाहिये। बन्धन का कारण तो राग द्वेष है। क्षत्रिय है अपनी पूर्व जन्म की प्रकृति के अनुसार युद्धादि में प्रवृत्त तो होगा, किन्तु सुख दुख, लाभ अलाभ, जय पराजय में समभाव रखकर प्रकृति अनुसार युद्ध करेगा, तो उसे युद्ध जनित पाप नहीं लगेगा। इन्द्रियों के कुछ विषय तो अपने अनुकूल होते हैं और कुछ विषय प्रतिकूल होते हैं, कुछ में राग होता है कुछ में द्वेष होता है। मुमुक्षु पुरुष की इतनी ही विशेषता है, कि अनुकूल और प्रतिकूल विषयों के अधीन न होना चाहिये। विषय न शत्रु है न मित्र उनमें जो राग-द्वेष है वही शत्रु है, वे ही परिपन्थी हैं। कुमार्ग की ओर ले जाने वाले है। स्वाभाविक राग-द्वेष की निवृत्ति हो जाने पर मुमुक्षु

को उसकी प्रकृति विपरीत मार्ग की ओर नहीं ले जाती। इसलिये शास्त्र की विधि निषेध आज्ञा रागद्वेष के सम्बन्ध में है। वह व्यर्थ नहीं है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब भगवान् ने रागद्वेष त्यागकर प्रकृति अनुसार कर्म करने को कहा तब अर्जुन ने शंका की मैं भी तो युद्ध त्यागकर भिक्षावृत्ति पर अपनी प्रकृति के ही अनुसार कार्य करना चाहता हूँ फिर आप मुझे उससे क्यों रोक रहे हैं ?" इसका जो उत्तर भगवान् देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

इन्द्रिय उनके अर्थ विषयतें राग-द्वेष है।
जो अपने अनुकूल द्वेष नहिँ राग-शेष हैं॥
जो होवें प्रतिकूल द्वेष उनतें अति होवै।
वशीभूत जो विषय ज्ञान विज्ञानहिँ खोवै॥
राग-द्वेष वश होहि नहिँ, नहिँ ये अपने मित्र हैं।
अवरोधक कल्यान के, विघ्नरूप अति शत्रु हैं॥

स्वधर्म पालन ही श्रेय है, परधर्म भयावह है

[१८]

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

अर्जुन उवाच—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ *

(श्री भग० गी० ३ अ०, ३५, ३६ श्लोक)

छप्पय

सबको है इक धरम वही करतव्य कहावे ।
अपनो अपनो धर्म सविधि करि मोक्ष दिवावे ॥
अपनो गुनतें रहित धरम सुखकर है भाई ।
अच्छो ऊ परधरम सदा होवै दुखदाई ॥
मरनो अपने धरम में, सुखदाई होवै सतत ।
भयदाता परधरम है, सदा रहै तातें विरत ॥

---

* भली-भाँति आचरण में लाये हुए दूसरों के धर्म से गुण रहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है। स्वधर्म पालन में तो मरना भी उत्तम है, क्योंकि परधर्म भय को देने वाला है ॥३५॥

अर्जुन ने पूछा—"हे वृष्णिवंशावतंस भगवन् ! यह पुरुष बिना इच्छा के भी जैसे किसी ने बलात् लगा दिया हो, इस प्रकार किसकी प्रेरणा से पाप का आचरण करता है ॥३६॥

वर्णाश्रम धर्म की प्राचीन परम्परा ऐसी थी, कि जिसका जो वंश परम्परा से चला आता हुआ पैतृक धंधा होता था, उसी के द्वारा वह अपना जीवन निर्वाह किया करता था। इसे "स्वधर्म" कहते थे। स्वेच्छा से बिना आपत्ति के कोई अपने कुलागत धर्म को बदल नहीं सकता था। आपत्ति काल का धर्म दूसरा था, उसे आपद्धर्म कहते थे, उस आपद् धर्म के भी नियम थे। ब्राह्मण आपत्ति काल में क्षत्रिय धर्म अर्थात् हाथ में खड़ लेकर युद्ध से आजीविका प्राप्त कर सकता था। आपत्ति काल में खेती और व्यापार से भी आजीविका चला सकता था, किन्तु कैसी भी आपत्ति हो, शूद्र वृत्ति को नहीं अपना सकता था। क्षत्रिय आपत्ति के समय ब्राह्मण वेष बनाकर भिक्षा से निर्वाह कर सकता था, खेती व्यापार कर सकता था, इसी प्रकार वैश्य शूद्र-वृत्ति तथा वनवासियों की जो पत्तल बनाना, चटाई बुनना, इनको कर सकता था, किन्तु इनको वह तभी तक कर सकता था, जब तक आपत्ति हो। आपत्ति निवृत्ति हो जाने पर उसे पुन: स्वधर्म का पालन करना चाहिये यदि अनापत्ति काल में भी वह परधर्म का पालन करता है, तो पतित हो जाता है।

महाभारत युद्ध, भूमि के लोभ से या राज्य पाने की इच्छा से अथवा ऐश्वर्य भोग की लालसा से नहीं हुआ था। विशुद्ध धर्म युद्ध था। पांडवों के जब आपत्ति के दिन थे तब वे बारह वर्षों तक ब्राह्मणों का वेष बनाये भिक्षावृत्ति पर निर्वाह करते रहे। जब उनका विवाह द्रुपद पुत्री द्रौपदी से हो गया। वे गृहस्थ क्षत्रिय बन गये आपत्ति के दिन बीत गये तब उन्होंने कहा— "अब हम भिक्षा पर निर्वाह नहीं कर सकते, अब हम प्रजा-पालन रूपी क्षत्रिय धर्म का ही पालन करेंगे। जैसे-तैसे उन्हें खांडव प्रस्थ एक बन का राज्य दे दिया गया। वहाँ उन्होंने अपने

पुरुषार्थ से क्षत्रियोचित धर्म का पालन करते हुए इन्द्रप्रस्थ नामक एक समृद्धशाली साम्राज्य की स्थापना कर ली।

जब द्यूत क्रीडा में अपना सर्वस्व हारकर वनवास करने लगे, तब यद्यपि आपत्ति काल ही था, फिर भी वे क्षत्रियोचित ठाठ-बाठ से रहते थे। जब अज्ञातवास में रहे तो विशुद्ध आपद्-धर्म का पालन किया। वन की अवधि समाप्त होने पर भी जब दुर्योधन उनके पैतृक राज्य को लौटाने को तैयार न हुआ, तब क्षत्रिय धर्म के अनुसार उन्हें युद्ध करके राज्य प्राप्त करना चाहिये था, किन्तु धर्मराज भाई भाइयों में रक्तपात को उचित नहीं समझते थे, अतः उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि यद्यपि हम अवस्था में बड़े हैं, दुर्योधन हमसे छोटा है। राज्यवंश की परम्परानुसार हमें राज्यगद्दी मिलनी चाहिये। दुर्योधनादिकों को हमारे अधीन रहकर छोटे राज्यों में राज करना चाहिये, किन्तु यदि दुर्योधन का सम्राट् बने ही रहने का हठ है, तो हम कुल की कलह को मिटाने के लिये उसके अधीन भी रहने को तय्यार हैं। क्षत्रिय धर्म का पालन करने तथा निर्वाह के लिये वह हम पाँच भाइयों को केवल पाँच गाँवों का ही राज्य दे दे। पहिले एक-एक गाँव के भी राजा होते ही थे। एक गाँव में कई राजा या भूपति होते थे। वास्तव में राजा शब्द भूमिपति क्षत्रिय मात्र के लिये प्रयुक्त होता था, किन्तु दुर्योधन पाँच-गाँव की तो बात ही क्या भूमि में सुई की नोंक गड़ाने पर जो छोटा सा छिद्र हो जाता है, उतनी भी भूमि देने को जब तैयार न हुआ, तो विवश होकर स्वधर्म से प्रेरित होकर धर्मराज ने युद्ध किया। राज्य के लोलच से नहीं।

उन दिनों वंश परम्परागत कार्य को सभी लोग अत्यन्त आग्रहपूर्वक करते रहते थे। अपना वंशपरम्परागत धर्म कितना

भी सदोष हो, उसे कोई बदलता नहीं था। धर्म शास्त्रकारों ने केवल तीन ही कार्यों को बदलने की छूट दी है। एक तो जिसके वंश परम्परा मे चोरी करते आये हों वह यदि चौर्यकर्म को छोड़ दे तो उसे पाप न लगेगा। दूसरा हिंसा का कर्म, फाँसी देना जीवहत्या करना आदि। तीसरा नाटकों में स्त्री बनकर अभिनय करना। किसी के बाप दादे ऐसा कर्म करते आ रहे हैं और कोई उसे छोड़कर दूसरा कार्य अपना ले तो उसे दोष न लगेगा। शेष जो भी परम्परागत कार्य हों उन्हें धर्मपूर्वक करते ही रहना चाहिये। इस विषय के महाभारत में अनेक दृष्टान्त हैं। धर्म-व्याध ने इस विषय को बहुत स्पष्ट किया है। महाभारत की बहुत सुप्रसिद्ध सर्वत्र प्रचलित कथा है कि कौशिक ब्राह्मण अपने माता-पिता की सेवा रूप धर्म को त्यागकर वन में तपस्या करने लगा। तपस्या करते-करते उसकी जटायें बढ़ गयीं। उनमें पक्षियों ने घोंसला बनाकर अंडे दे दिये। अंडे बच्चे बनकर उड़ गये। एक वृक्ष पर बगुली बैठी थी उसने तपस्वी पर बीठ कर दी इससे तपस्वी को क्रोध आ गया। तनिक वक्रदृष्टि से उसकी ओर देखा वह मरकर गिर गयी। इससे उन्हें दुःख भी हुआ अपनी तपस्या का अभिमान भी बढ़ा, भिक्षा करने एक सती के घर में गये। सती अपने पति परमेश्वर की सेवा रूप स्वधर्म में संलग्न थी। उसे भिक्षा लाने में देरी हुई। ब्राह्मण को क्रोध आ गया। उस स्त्री से बोले—"तू मेरे प्रभाव से परिचित नहीं है?" स्त्री ने हँसकर कहा—"बाबाजी! बगुली नहीं हूँ, मै अपने स्वधर्म पालन में लगी हुई थी। मै तुम्हारी दृष्टि से भस्म होने वाली नहीं। ब्राह्मण का क्रोध कपूर की भाँति उड़ गया। उसने उपदेश करने की प्रार्थना की। सती ने कहा—"महाराज! मुझे उपदेश करने का अवकाश नहीं मिथिलापुरी में धर्मव्याध नाम का धर्मात्मा

है, उसके पास जाओ, वह तुम्हें उपदेश देगा। ब्राह्मण पूछता हुआ मिथिला में धर्मव्याध के समीप पहुँचा। वह वधशाला के बाहर मांस बेच रहा था। ब्राह्मण को आता देखकर धर्मव्याध ने उठकर उन्हें प्रणाम किया और बोला—"ब्रह्मन्! जिस व्याध को खोजते हुए उस सती के कहने पर यहाँ आये हैं वह व्याध मैं ही हूँ।"

अब तो ब्राह्मण के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। धर्मव्याध से बातें करने से उसे प्रतीत हुआ यह तो पूर्णज्ञानी सिद्ध पुरुष है। जब वह मांस बेच चुका तो ब्राह्मण को लेकर घर की ओर चला। ब्राह्मण ने कहा—'भैया, तुम पूर्णज्ञानी होकर यह मांस बेचने का नीच कार्य करते हो, यह तुम्हारे उपयुक्त नहीं है। तुम्हारे इस कार्य से मुझे तो बड़ा क्लेश हो रहा है।

इस पर व्याध ने कहा—"देखिये, ब्रह्मन्! यह कार्य मैंने स्वेच्छा से नहीं अपनाया है। यह मेरा वंशपरम्परा का व्यवसाय है। मेरे पिता, पितामह, वृद्ध प्रपितामह सब इसी के द्वारा अपनी आजीविका चलाते आये हैं। यह हमारा स्वधर्म है। मैं स्वयं कोई निषिद्ध कार्य नहीं करता। मैं स्वयं जीवों को मारता भी नहीं। मरे मराये जीवों का मांस लाकर बेचता हूँ। मैं स्वयं कभी मांस नहीं खाता। सत्य बोलता हूँ, अपने माता-पिता को देवता मानकर उनकी पूजा करता हूँ, परनिन्दा नहीं करता, यथाशक्ति दान देता हूँ, अतिथि अभ्यागत, देवता तथा सेवकों को सन्तुष्ट कर उनसे बचे अन्न को खाता हूँ, मैं अपने वंश परम्परागत व्यवसाय को क्यों छोड़ूँ। फिर उसने अपने माता-पिता को दिखाकर कहा—इनकी सेवा ही मेरा तप है। घर के तीर्थ—माता-पिता—को छोड़कर बाहर तपस्या के लिये भटकने से क्या लाभ? आप घर जाइये माता-पिता की सेवा कीजिये।

धर्म व्याध ने कौशिक ब्राह्मण को बहुत उपदेश दिया है। महाभारत में वह धर्मव्याध गीता के नाम से बड़ा ही शिक्षाप्रद रोचक प्रकरण है। इस संवाद से तीन शिक्षायें मिली। जिनका माता-पिता की सेवा धर्म है उन्हें अन्यत्र तपस्या के लिये जाने की आवश्यकता नहीं। स्त्रियों का अपने पतियों में सहज अनुराग होता है। अतः स्त्रियों का सहज धर्म पति सेवा ही है। स्त्रियों को पति सेवा से ही सर्व सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं। पति को छोड़कर उन्हें अकेले तीर्थ यात्रा, उपवास व्रत तथा तपस्या आदि की आवश्यकता नहीं और जिनका जो वंश परम्परा का सहज धर्म है वह सदोष भी हो तो उसे त्यागने की आवश्यकता नहीं।

वेश्यावृत्ति एक अत्यन्त नीच गर्ह्य हेय वृत्ति है किन्तु जिसका यही वंश परम्परा का व्यापार हो, उसको भी इसे त्यागने की आवश्यकता नहीं।

पाटलिपुत्र के राजा के राज्य में एक समय गंगाजी में बड़ी भारी बाढ़ आई। उसने ड्योढ़ी पिटवादी कोई अपने धर्म से बाढ़ को रोक सकता हो, तो आवे। एक वेश्या सम्मुख आई। उसने कहा—मैं बाढ़ को रोक सकती हूँ।"

राजा ने कहा—"तू नीच कर्म करने वाली वेश्या तू कैसे रोक सकती है ?"

उसने कहा—"राजन् ! वेशावृत्ति मेरा वंश परम्परा का व्यसाय है, मेरा सहज धर्म है। मैं अपने ग्राहकों से छल कपट नहीं करती। जिसदिन जिससे जितने में पण हो जाता है, फिर कोई मुझे करोड़ रुपये दे मैं अपने पण को बदलती नहीं। मैं प्राणि मात्र का हित चाहती हूँ, सत्य का आचरण करती हूँ।" "उसी धर्म के बल पर मैं बाढ़ को रोक सकती हूँ।" राजा ने

उसकी बात स्वीकार की। सबके देखते देखते वेश्या के धर्म के प्रभाव से बाढ़ शान्त हो गयी।

ऐसी ही कथा गंडकी की भी है। गंडकी एक वेश्या की पुत्री अत्यन्त ही रूपवती थी। उसके सौंदर्य की रूप यौवन की और धर्म की तीनो लोकों को में ख्याति थी। वह एकदिन को जिस पुरुष से पण करती, एकदिन को जिसे अपना शरीर समर्पित करती। दूसरे दिन सूर्योदय तक उसमें ईश्वरभाव रखकर सब प्रकार से उसकी सेवा करती। सूर्योदय होने पर उसके चरणों में प्रणाम करके प्रेम पूर्व उसे विदा कर देती, तब दूसरे पुरुष से दूसरे दिन तक को पण करती। एकबार पण कर लेने पर फिर कोई कितना भी सुन्दर पुरुष क्यों न आ जाय कितना भी अधिक धन क्यों न दे दे वह अपने पण को बदलती नहीं थी।

एक दिन एक बड़ा ही सुन्दर नवयुवक आया। उसने एक रात्रि का उससे पण किया, उतने रुपये दे गया और चला गया। उसके पश्चात् बहुत से सुन्दर से सुन्दर युवक आये। करोड़ों स्वर्ण मुद्रायें देने उद्यत हुए। अपनी माता के अत्यन्त आग्रह सु करने पर भी उसने अपने पण को नहीं बदला और उसी युवक का ध्यान करते-करते उसी की प्रतीक्षा में बैठी रही। रात्रि के दस बजे वह नारायण नाम का युवक आया। उसने भगवत् बुद्धि से उसका स्वागत सत्कार किया। उसका नियम था, एकदिन को जिसके साथ पण करती, उसमें भगवत् बुद्धि रखकर पाद्य, अर्घ्य आचनीय जल देकर स्नान कराती, सुन्दर वस्त्राभूपणो से अलंकृत करके चन्दन, अक्षत, पुष्पमाला अर्पण करके नाना प्रकार के व्यजनों से उसे भोजन करा के तदनन्दर आत्मसमर्पण कर देती। [illegible]

[illegible] उसने पाद्य, अर्घ्य आचमनीय जल देकर ज्यों ही सुगन्धित

जल से स्नान कराने को उसके वस्त्र उतारे, त्योंही क्या देखती है, उस युवक के सम्पूर्ण शरीर में गलित कुष्ट है। यह देखकर भी वह तनिक विचलित न हुई। रुई लाकर उसके घावों के पीव को पोंछती रही ओपधि लगाती रही। बहुत-सी सेविकायें उसने सेवा में लगा दी। उसकी माँ बहुत मना करती रही—"बेटी! इसके रुपये लौटा दे, इस कोढ़ी को घर से बाहर कर दे।" किन्तु उसने स्पष्ट कह दिया—"माँ! मैं अपने स्वधर्म से कभी भी विचलित न हूँगी। सूर्यास्त तक ये मेरे पति परमेश्वर हैं। शक्ति भर मैं इनकी सेवा में सतत संलग्न रहूँगी। वह आधी रात्रि तक उसके घावों को धोती रही ओपधि लगाती रही अर्धरात्रि के पश्चात् उस युवक को विसूचिका (हैजा) हो गयी। बार-बार शैया पर ही मल मूत्र उत्सर्ग कर दे, वमन कर दे। वह तुरन्त वस्त्रों को बदल दे। उसके यहाँ वस्त्रों की कमी नहीं थी। ज्यों ही वह नये वस्त्र बदले त्यों ही वह युवक पुनः मल त्याग दे, वमन करदे। वह न तो घृणा करती, न क्रोध करती, अव्यग्र भाव से श्रद्धा पूर्वक सेवा में संलग्न बनी रही। अरुणोदय के समय वह युवक मर गया।

अब इस गंडकी वारांगना-पण्यस्त्री-ने कहा—"सूर्योदय से पूर्व ही मेरे पण्यपति का स्वर्गवास हुआ है, मैं तो इनके साथ सती होऊँगी।" उसकी माता ने, सम्बन्धियों ने, बड़े-बड़े सेठ साहूकारों ने राजा ने उसे ऐसा करने से बहुत मना किया, किन्तु उसने किसी की बात मानी नहीं। नगर भर में जितना चन्दन मिला, सब क्रय करके उसने चन्दन की चिता बनवायी, उसे गोदी में लेकर सोलह-शृंगार करके वह चिता में बैठ गयी। सब रो रहे थे, नगर भर के लोग अपने नगर की इतनी नामी सुन्दरता की सजीव मूर्ति को जीवित जलते देखकर हा-हा करके रुदन

कर रहे थे, पुरोहित ने चिता की परिक्रमा करके ज्योंही उसमें अग्नि देनी चाही, त्यों ही वह युवक हँस पड़ा। सबने रोना बन्द किया, उपस्थित जन समूह में हर्ष की एक लहर छा गयी। लोग परस्पर में काना फूँसी करने लगे।

तब उस वारांगना ने पूछा—"महाराज! आप हैं कौन? पहिले तो बड़े सुन्दर नवयुवक बन कर आये, फिर कुष्टी बन गये, फिर आतुर रोगी बने, फिर मर गये और हँस रहे हो?"

हँसते हुए युवक ने कहा—"मैंने तो पहिले ही तुम्हे अपना नाम बता दिया था। मैं साक्षात् नारायण हूँ, तुम्हारे स्वधर्म पालन की निष्ठा की परीक्षा लेने आया था। तुम उसमें पूर्ण-रीत्या उत्तीर्ण हो गयीं, अब तुम मुझसे जो चाहो सो वरदान माँग लो।"

ऐसा कहकर भगवान् ने अपना दिव्यचतुर्भुज रूप उसे दिखाया। भगवान् के दर्शन पाकर उसने कहा—"प्रभो! आप ऐसे कृपा के सागर हैं, कि मुझ लोक निंदित नीच वारांगना, पण्यस्त्री बहुभर्तृका के भी समीप पधारे और मुझे दर्शन दिये अपनी सेवा का देवदुर्लभ अवसर प्रदान किया और अब आप मेरे अंक में बिराजमान है, अब माँगने को शेष रहा ही क्या? फिर भी आपका कुछ देने का आग्रह ही है, तो आप सदा सर्वदा इसी प्रकार मेरे अंक में बिराजमान रहें।"

भगवान् को वृन्दा के शाप वश अपना पाषाण का श्री विग्रह बनाना ही था। गण्डकी का शरीर दिव्य जलमय होकर गण्डकी नदी के नाम से प्रवाहित हो गया और भगवान् शालग्राम रूप से उसके अंक में सदा बिराजमान रहते हैं।"

इस कथा से यही सिद्ध होता है, कि अपना स्वधर्म-वंश परम्परा से चला आया कर्म-कैसा भी निन्दित क्यों न हो, यदि

उसका भलीभाँति प्रभु सेवा समझकर पालन किया जाय, तो उसी साधन से मुक्ति प्राप्त हो सकती है, भगवत् साक्षात्कार प्राप्त हो सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने यह शंका की, कि लोकसंग्रह की दृष्टि से पूर्णज्ञान हो जाने पर भी कर्म करते रहना तो ठीक है, किन्तु कर्म ऐसा मृदु, दूसरों को संताप न देने वाला, अहिंसक तथा अधिक श्रमकारक न होना चाहिये। इसलिये हम एकान्त में बैठकर मंत्रानुष्ठान रूपी कर्म करें, जप करें, कापोती वृत्ति धारण करके कबूतर की भाँति एक-एक दाना चुनकर लावें। या शिलोंछ वृत्ति से निर्वाह करें, नहीं तो घर-घर से नित्य भिक्षा वृत्ति से ही निर्वाह करें। जिस युद्ध में असंख्यों जीवों का वध हो, ऐसे क्रूर कर्म को क्यों करें? रागद्वेष त्यागकर मुनिवृत्ति धारण कर लें।"

इस पर भगवान् ने कहा—"देखो भैया, संसार में इतने काम निन्दनीय हैं—श्रद्धाहीनता, असूया या डाह, चित्त की दुष्टता, मूढ़ता, प्रकृति के वशवर्ती होना, पुष्कल रागद्वेष और परधर्म में रुचि रखना।"

अर्जुन ने पूछा—"परधर्म क्या?

भगवान् ने कहा—"जिस वर्ण के लिये जिस आश्रम के लिये जो कर्म विहित है, उसी का नाम तो स्वधर्म है और जो इसके विपरीत अपने वर्ण आश्रम के विरुद्ध वृत्ति को स्वीकार कर लेना परधर्म है। वंश परम्परा से जिस कार्य के द्वारा अपनी आजीविका चलाते आये हो, उसी को करते रहो, इससे समाज की स्थिति सुदृढ़ बनी रहेगी, किन्तु जो अपने पैतृक धन्धे को त्यागकर इधर-उधर भटकते फिरेंगे, तो इससे तो समाज में कर्म संकरता बढ़ेगी। कृषक का लड़का खेती ही करे धोबी का बच्चा कपड़े ही

धोवे। जब सब अपने-अपने धर्म कर्म में लगे रहेंगे तो सभी सुखी रहेंगे।"

अर्जुन ने पूछा—"अपनी वंश परम्परा का काम कुछ हेय हो, छोटा हो, अंग हीन हो तो उसे छोड़कर कोई दूसरा साङ्गोपाङ्ग कर्म स्वीकार करले तो इससे क्या दोष लगेगा ?"

भगवान् ने कहा—जिसे तुम हेय कर्म समझते हो, आखिर उसे भी तो कोई करेगा ही जब समाज में सब कामो को सभी नहीं कर सकते। अच्छा बुरा सभी काम किसी न किसी को करना ही है, तो सुविधा तो इसी में है, कि जो जिसका वंश परम्रा से कार्य चला आ रहा है, उसे विगुण होने पर भी न छोड़े और दूसरों का कर्म चाहे गुण सहित सुन्दर भी हो, तो ग्रहण न करे। केवल चोरी और प्रत्यक्ष हिंसा के कार्य वंशपरम्परा के भी चाहें तो छोड़े जा सकते हैं।

अर्जुन ने पूछा—स्वधर्म के ही लिये इतना आग्रह क्यों है ?

भगवान् ने कहा—इसलिये उस कर्म के संस्कार वंशानुगत हैं। एक व्यक्ति न्यायाधीश है, न्याय करके वेतन से निर्वाह करता है, दूसरा है, मिट्टी के वर्तन बनाकर, घास खोद कर, कपड़े धोकर, कपड़े सी कर निर्वाह करता है। दोनों का निर्वाह ही तो होता है, धर्मवृत्ति रखना दूसरी बात है। एक व्यक्ति मांस बेचते हुए भी पूर्ण धार्मिक रह सकता है, दूसरा यज्ञयाग शुभ कर्मों को करते हुए भी अधार्मिक हो सकता है। रागद्वेष के अधीन होकर जो कर्म करते हैं, ऊपर से कार्य अच्छा भी क्यों न प्रतीत हो, वह अधम ही करता है और रागद्वेष से रहित होकर फिर चाहे मांस बेचने का निन्दित कर्म ही क्यों न हो, उससे भी परमार्थ की प्राप्ति हो सकती है। इसलिये दूसरों के गुण सहित धर्म से अपना गुण रहित धर्म भी उत्तम है। स्वधर्म का पालन करते-करते मर जाना भी

श्रेष्ठ है, फिर भी परधर्म को स्वीकार न करे, क्योंकि परधर्म भय का देने वाला है। वास्तव में ये कामनायें ही तो हमें कर्मों में प्रवृत्त करती हैं।

अर्जुन ने पूछा—"भगवन्! बहुत से ऐसे कार्य हैं, जिन्हें हम करना नहीं चाहते। उन्हें करने को हमारी इच्छा नहीं होती, फिर भी जाने कौन-सी अव्यक्त शक्ति हमें बलात् प्रेरित करके हमसे उन कार्यों को करवा लेती है। जिस काम को हम शास्त्रीय समझते है जिसके करने से इस लोक में परलोक में सुख बताया गया है, उसे इच्छा रहने पर भी हम कर नहीं सकते। उस शक्ति का नाम बताइये जो हमें हठ पूर्वक–इच्छा न रहने पर–भी पाप कर्मों में प्रवृत करती है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के ऐसा पूछने पर भगवान् ने जो इसका युक्तियुक्त उत्तर दिया, उसका वर्णन मैं आप से आगे करूंगा। आप सावधानी के साथ इस परम पावन प्रकरण को श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

अरजुन पूछें फेरि–नाथ! इक बात बताओ।
पाप करम च्यौं करै मनुज जाकूँ समुझाओ॥
मन मे इच्छा नाहिं फेरि हू हठवश कोई।
मानों प्रेरित करै लगावै बरबस सोई॥
प्रवृत कौन ताकूँ करै, पाप करम च्यौं करतु है।
जानि बूझि सब बात कूँ, कूआ में च्यौं परतु है॥

हत्या की जड़ काम ही है

[१६]

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥*

(श्री भग०गी० ३ अ० ३७, ३८ श्लो०)

छप्पय

हँसि बोले भगवान्—काम ही है रिपु भारी।
काम रूप बहु धरै बिगारै बुद्धि हमारी॥
काम क्रोध बनि जाय रजोगुन के ये सुत हैं।
लम्बोदर हैं बड़े करैं नित अति भोजन हैं॥
काम बड़ो पापी प्रबल, क्रोध सहित सिर पै खड़ो।
करम करावै हठ सहित, है यह खल वैरी बड़ो॥

---

* श्री भगवान् ने कहा—हे महाबाहो ! वह काम है, यही क्रोध है। यह रजोगुण से उत्पन्न होता है, बहुत खाने वाला है, यह बड़ा पापी है, तू इसे ही इस सम्बन्ध में शत्रु समझ ॥३७॥

जैसे धुएँ से अग्नि तथा मैल से दर्पण ढका रहता है और जरा से गर्भ ढका रहता है, उसी प्रकार काम के द्वारा यह ज्ञान ढका हुआ है ॥३८॥

यह सृष्टि त्रिगुणात्मिका है। तीनों गुण न हों तो यह सृष्टि ही न चले। तीनों गुण परस्पर में मिले-जुले रहते हैं। ब्रह्माजी जैसी-जैसी इच्छा करते गये, वैसी-वैसी सृष्टि बनती गयी। जिस समय उन्होंने जैसा संकल्प किया वैसी ही आकृति बन गयी। सृष्टि संकल्पमय है। कामनामय है। केवल सत्वगुण से, भी सृष्टि नहीं होती और न केवल रजोगुण या तमोगुण से। किन्तु जो गुण प्रधान होता है, वैसी ही सृष्टि कहाती है, जैसे सत्वगुण वाले जीव रजोगुणी जीव तमोगुणी जीव आदि-आदि। इसीलिये जहाँ धर्म, की उत्पत्ति ब्रह्माजी से है, वहीं अधर्म भी ब्रह्माजी का ही पुत्र है।

रजोगुण से उत्पन्न जो कामना है, वही संसारचक्र को दृढ़तर बनाती है। सत्वगुण की जो कामना है वह संसार बन्धन को ढीला करती है। अतः रजोगुण समुद्भूत कामना का ही निग्रह करना यही पुरुषार्थ है, साधक के लिये यही आदेश है, कि इसके ऊपर वह विजय प्राप्त करे। जीवात्मा जैसा-जैसा ध्यान करता है, वैसी-वैसी ही उस ध्येय विषय में आसक्ति बढ़ती जाती है, उसके प्रति अधिकाधिक लगाव होता जाता है। फिर उस विषय को प्राप्त करने की चाह, इच्छा, वासना अथवा कामना होती है। कामना ही दुःख का कारण है। कामना के अधीन हुआ प्राणी सभी अनर्थ कर सकता है। बलवती कामना विवेक को अपने पास भी फटकने नहीं देती। वह अविवेक को निमन्त्रित करती है। कामना अनेक रूपवाली है, जब वह पुरुष रूप में प्रकट होती है तब उसका नाम "काम" पड़ जाता है, स्त्री रूप में कामना, वासना-इच्छा कहलाती है। जीवात्मा जब कामना करता है मेरे स्त्री हो तो वह स्त्री वाला बन जाता है, जब कामना करता है मैं पुत्रवान्, धनवान्, ऐश्वर्यवान् बन जाऊं तब तैसा बन जाता है। संसारी

कामना करते-करते वह अपने अविवेक को खोकर सर्वज्ञान विमूढ़ात्मा बन जाता है, अपने को ही कर्ता मानकर अनर्थ की सृष्टि करने लगता है।

भगवान् ने इस अनर्थ के क्रम को पीछे बहुत विस्तार से बताया। पहिले पुरुष विषयों का ध्यान करता है। उससे "संग" उत्पन्न होता है। 'संग' से काम, काम से क्रोध, क्रोध से सम्मोह, संमोह से स्मृतिविभ्रम। फिर भगवान् ने इन सबसे बचे रहने का भी उपदेश दिया। अब यह शंका होना स्वाभाविक ही है, कि इन इतने अनर्थों की जड़ कौन है। चोर तो बहुत से हैं, उन्हें कहाँ-कहाँ मारते फिरेंगे। यदि कहीं चोर की माँ का पता चल जाय, तो पहिले उसी को मार दें, जिससे चोर उत्पन्न ही न हों। महर्षि भृगु की पत्नी असुरों को प्रसूय देती थी। असुर देवताओं का अनर्थ करके भृगु पत्नी के पास छिप जाते, भगवान् ने उस भृगु पत्नी को ही मार डाला। इसी प्रकार सब अनर्थों के मूल कारण का पता चल जाता तो उसी से जूझते। इसीलिये अर्जुन ने पूछा—"हमें इच्छा न रहने पर भी ऐसी कौन-सी शक्ति है जो बलात् पापों में लगा देती है। अब उसी का उत्तर सुनिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अर्जुन ने यह पूछा कि हमें बलात् पापों में कौन प्रवृत्त करता है, तो इसका उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा—"अर्जुन! जो हमें बलात् पापकर्मों में प्रवृत्त कराता है उसका नाम "काम" है।

अर्जुन ने पूछा—"काम किसे कहते हैं भगवन्!

भगवान् ने कहा—"संसारी भोगों को भोगने की इच्छा का नाम काम है। भोगों में सुख बुद्धि हो जाने पर उनके अधिकाधिक भोग से हमें अधिक से अधिक सुख मिले ऐसी कामना करने का ही नाम काम है।

अर्जुन ने पूछा—"मान लो, जो कामना करता है, उसकी पूर्ति नहीं होती, या उसकी प्राप्ति में कोई विघ्न डालता है, तब काम का क्या स्वरूप होता है।

भगवान् ने कहा—"कामना, वासना या इच्छा की पूर्ति नहीं होती है और अपने को समर्थ समझता है, तब वही काम 'क्रोध' का रूप धारण कर लेता है। जैसे रस ही जमकर गुड़ बन जाता है, जैसे दूध ही जमकर दही बन जाता है, वैसे ही इच्छा पूर्ति न होने पर काम ही क्रोध बन जाता है। दोनों एक ही है सगे भाई समझो या पिता पुत्र समझो वैसे मूल पुरुष तो काम ही है, किन्तु उसका परिवार बहुत बड़ा है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, दम्भ, माया, शठता, हिंसा, कलह दुरुक्ति, भय आदि इसी काम के वंशज हैं। जैसे दूध से दही, मक्खन, मट्ठा, घृत, रबड़ी, खोया आदि बन जाते हैं, किन्तु सबका मूल कारण तो दूध ही है। दूध न हो तो इनमें से एक भी वस्तु न बने। इसी प्रकार काम न हो, तो इसका परिवार भी न बढ़ेगा।

अर्जुन ने पूछा—"इसके नाती पोते पर पोते तो बहुत हैं, यह भी तो किसी का पुत्र होगा यह किससे उत्पन्न हुआ है?

भगवान् ने कहा—"इसके बाप का नाम है रजोगुण, तमोगुण भी चाचा है, किन्तु उत्पन्न यह रजोगुण से ही होता है।

अर्जुन ने कहा—"इस काम का आहार क्या है? कितना खाता है?"

भगवान् ने कहा—"इसके खाने पीने की बात मत पूछो। संसार में ऐसा कोई ही पदार्थ होगा, जिसे यह खा न जाता हो। कितना खाता है, इसका कोई प्रमाण नहीं। यह इतना भारी पेटू है, कि कितना भी खा ले, इसका कभी पेट ही नहीं भरता। बस, कहना तो यह जानता ही नहीं। पर्याप्त है, अब नहीं चाहिये। ये शब्द इसके कोष में ही नहीं हैं।"

अर्जुन ने कहा—इसका स्वरूप है क्या ?

भगवान् ने कहा—पाप ही इसका स्वरूप है। अधर्म ही आधार है।

अर्जुन ने कहा—इस काम से मैत्री कर लें तो कैसा रहेगा ? तब तो यह क्लेश न देगा ?

भगवान् ने कहा—कदापि नहीं, सर्वथा नहीं, इससे मित्रता न करना। इसे तुम इस संसार में अपना सबसे बड़ा शत्रु ही समझो। इस पापी से तो दूर ही रहना अच्छा है।

अर्जुन ने कहा—महाराज ! यह काम दिखायी तो देता नहीं। फिर इसे हम कैसे जानें ?

भगवान् ने कहा—जो वस्तु आँख से दीखे उसी को तुम मानोगे ? अपनी आख अपनी ही आँखों से नहीं दीखतीं तो क्या यह कह दोगे, कि आँखें नहीं। अपनी पीठ नहीं दिखायी देती। जो वस्तु प्रत्यक्ष नहीं दीखती उसका अनुमान लगाया जाता है, दूर से अग्नि दीखती नहीं, केवल धूँआ दिखायी देता है। धूँए ने अग्नि को ढक रखा है, तो अनुमान लगा लेंगे कि जहाँ-जहाँ धूँआ है वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होगी चाहे अग्नि दिखायी न दे किन्तु धूँए से ढकी रहने पर भी उसका अस्तित्व सिद्ध हो ही जाता है। कामना पूर्वक की हुई क्रियाओं से 'काम' प्रत्यक्ष-सा दिखायी देता है। उसके कारण ज्ञान दब जाता है।

अर्जुन ने कहा—"अग्नि से ही धूँआ उत्पन्न होता है, इससे उसका अनुमान लगाया जा सकता है, किन्तु धूँआ से ढकी अग्नि अपना कार्य—दाहकता—से पृथक् तो नहीं हो जाती। अपना कार्य तो करती ही रहती है ? इसी प्रकार काम से ढकने पर भीतर ज्ञान अपना प्रकाश तो फैलता ही रहता होगा ?"

भगवान् ने कहा—दृष्टान्त का सर्वांश नहीं लिया जाता, जितने से प्रयोजन होता है, उतना ही लिया जाता है, यहाँ अग्नि के ढकने से ही प्रयोजन है। धूँआ अग्नि को प्रकट नहीं होने देता।

अच्छा दूसरा दृष्टान्त लो। जैसे दर्पण है स्वच्छ रहता है, तो उसमें प्रतिबिम्ब दिखायी देता है, उसके ऊपर धूल जम गयी तो उसमें कुछ भी नहीं दीखता। इसी प्रकार जीव तो चेतन्यांश है। जब इस पर काम की धूलि जम जाती है, तब उसमें कुछ भी नहीं दीखता कोई भी देखने की क्रिया नहीं होती।

अर्जुन ने कहा—यद्यपि धूलि ढके दर्पण में कुछ भी नहीं दीखता, किन्तु उसकी धूलि को स्वच्छ कर दो, तो फिर सब कुछ दीखने लगता है, पुनः अपनी क्रिया करने लगता है।

भगवान् ने कहा—हाँ ठीक है, इसी प्रकार काम रूपी अज्ञान के हट जाने पर जीव को ज्ञान का प्रकाश दिखायी देने लगता है। अच्छा देखो जैसे जीव है, वह जेर से झिल्ली से लिपटा रहता है, तो न तो स्वयं क्रिया ही कर सकता है, न दीखता ही है। झिल्ली के फट जाने पर उससे पृथक् होने पर उसका प्रकाश प्रतीत होने लगता है। सो भैया, जैसे धूँए से अग्नि ढकी रहती है, मैल से दर्पण ढका रहता है और गर्भ की झिल्ली से गर्भ गत बालक ढका रहता है, उसी प्रकार यह काम से ढका रहता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! भगवान् इस दृष्टान्त को और भी स्पष्ट करेंगे, तथा काम कहाँ रहता है, उसके अधिष्ठान को बतायेंगे, इसका वर्णन आगे किया जायगा।

छप्पय

ज्ञान सदा परकाश नहीं तमतैं घबरावै।
ताहि ढकै कछु काल घटाघन ऊपर आवै॥
धूआँ तैं ज्यों अगिनि दिखाई देवै नाहीं।
दरपन में ज्यों मैल दिखै नहिँ मुख तिहिँ माहीं॥
गरभ ढक्यों ज्यों जेर तैं, नहिँ इत उत तातैं हिलै।
करम ढके त्यों ज्ञान कूँ, कहो मोक्ष कैसे मिलै॥

काम के कार्य और अधिष्ठान

[२०]

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥*

(श्री भग० गी० ३ अ०, ३९, ४० श्लोक)

छप्पय

काम करावै करम न करिवो तोऊ चायें ।
भोगनि देहि भुगाइ करन मन सँग मिलि जायें ॥
सबई ज्ञान भुलाइ बिषय इन्द्रीनि मिलावै ।
प्रानी ह्वैकें अवश विवश बनि कें फँसि जावै ॥
काम अगिनि खावै बहुत, तृप्त न कबहूँ होत जो ।
ज्ञानिनि को बैरी बढ़ो, ढकै ज्ञान की जोति जो ॥

जो अपना प्रबल शत्रु हो और जिस पर विजय करनी हो उसे मारना हो, तो उसके सम्बन्ध में दो बातें जान लेनी आवश्यक हैं। एक तो यह कि वह कार्य क्या करता है और दूसरे यह कि वह रहता कहाँ है। कहाँ रहकर वह अपना कार्य करता है। रहने के

---

* हे कौन्तेय ! इस अग्नि के सदृश कभी भी पूर्ण न होने वाले, ज्ञानियों के भी शत्रु रूप इस काम के द्वारा ज्ञान ढका रहता है ॥३९॥

इस काम के इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि अधिष्ठान बताये हैं, यह इनके द्वारा ही ज्ञान को ढकता है तथा जीवात्मा को मोहित करता है ॥४०॥

स्थान को गृह, देह, शरीर या अधिष्ठान, अथवा वास स्थान कहते हैं। जिसके रहने के स्थान का पता नहीं चलता, उसे जीतना कठिन हो जाता है।

त्रिपुर निवासी असुर देवताओं को मारकर अपने पुर में घुस जाते थे, और सोने, चाँदी तथा लोहे के बने तीनों पुरों में सदा घूमते रहते थे। वे कहाँ रहते हैं, कहाँ से आक्रमण करते हैं, इसका किसी को पता ही नहीं लगता था। उनके निवास स्थान का–अधिष्ठान का–किसी को ज्ञान ही नहीं था। देवताओं ने शिवजी से प्रार्थना की। शिवजी ने सर्वप्रथम आकाश में उड़ते रहने वाले उनके तीनों पुरों का पता लगाया और तब उन पर आक्रमण किया। किन्तु शिवजी को आश्चर्य तब हुआ, जब उन्होंने देखा, जिन असुरों को मैं अभी-अभी मार चुका हूँ, थोड़ी देर पश्चात् वे जीवित होकर पुनः लड़ने आ गये हैं। वे मृतक असुरों को उठा ले जाते और अपने पुर में ले जाकर न जाने क्या कार्य करते कि वे पुनः जीवित होकर–युद्ध करने आजाते। इसलिये इस बात का पता लगाना भी अत्यावश्यक था, कि वे अपने अधिष्ठान में–वासस्थान में–कार्य क्या करते हैं। पता लगाते-लगाते यह प्रतीत हुआ, कि मायासुर निर्मित उस पुर में एक अमृत कुण्ड है। मृतक असुरों को उसमें लाकर डाल देते हैं उसमें गोता लगाते ही वे जीवित हो उठते हैं। तब मायात्री भगवान् विष्णु ने गौ का रूप धारण किया, ब्रह्माजी को बछड़ा बना लिया। सवत्सा प्यासी गौ उस पुर में घुस गयी और असुरों के देखते-देखते अमृत कुण्ड के समस्त अमृत को पान कर गयी इसी प्रकार शत्रुघ्नजी जब मधु-असुर के पुत्र लवणासुर को मारने गये, तो पहिले उसके निवास का पता लगा लिया। उसके पास एक ऐसा त्रिशूल था, कि उसे जब वह हाथ में ले लेता था, तो संसार में उसे कोई जीत नहीं सकता था। वह एक स्थान में उसे

रखकर उसकी पूजा करता, और उसे वहीं रखकर आखेट करने जाता। शत्रुघ्नजी ने उस त्रिशूल के स्थान का पता लगा लिया और उसके द्वार पर धनुष बाण धारण करके बैठ गये। असुर जब आया तो उसे त्रिशूल लेने भीतर नहीं घुसने दिया। भगवान् रामचन्द्रजी के दिये हुए बाण से उन्होंने असुर को मारकर उस पर विजय प्राप्त कर ली और माथुर शूरसेन प्रान्तों के राजा बन गये। इसलिये जिस पर विजय प्राप्त करनी हो, उसके अधिष्ठान का पता प्रथम लगा लेना चाहिये और यह भी जान लेना चाहिये कि वह करता क्या है। प्राणियों का सबसे बड़ा शत्रु परम पराक्रमी प्रबल बैरी काम ही है। हमें काम पर त्रिपुरारी शिव की भाँति विजय पानी है, तो उसके कार्य तथा अधिष्ठान के सम्बन्ध में जानकारी अवश्य प्राप्त कर लेनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी अर्जुन को बता रहे हैं—"अर्जुन! जैसे धुएँ से अग्नि, मैल से दर्पण और जेर से गर्भ ढका रहता है, वैसे ही इस अनल के सदृश काम रूप शत्रु से ज्ञान ढका रहता है। ज्ञान को दबाये रखना ही इसका कार्य है।"

अर्जुन ने पूछा—"प्रभो! काम को अनल की उपमा आप क्यों दे रहे हैं?"

भगवान् ने कहा—"अनल का अर्थ है, जिसका अलं-पर्याप्ति-न हो उसे अनल कहते हैं। जो खाते-खाते अलं-बस-न करे। आयुर्वेद शास्त्र में एक भस्मक रोग होता है, उस रोग का रोगी कितना भी खाता जाय उसका उसका पेट नहीं भरता। वह यह नहीं कहता कि बस, अब मुझे नहीं चाहिये। अग्नि का भी यही स्वभाव है, प्रज्वलित अग्नि में चाहे जितना घृत, अन्न साकल्य, ईंधन डालते जाओ। जितना डालते जाओगे उतने ही पदार्थों को अग्नि जलाती जावेगी। वह मना नहीं करेगी कि अब मेरा पेट भर गया, अब मुझे नहीं चाहिये। इसीलिये उसका दूसरा विशे-

पण है दुष्पूर। अर्थात् जो खाते-खाते कभी तृप्त न हो, सदा अतृप्त ही बना रहे, जितना मिलता जाय उतना ही अधिक और खाने की इच्छा बढ़ती जाय। यह कामवासना-भोगों की इच्छा भी ऐसी ही है यह कामवासना कभी तृप्त नहीं होती।

अर्जुन ने कहा—"भोग से तो तृप्त हो ही जाती होगी, जिस विषय के भोग की इच्छा हुई, वह भोग्य पदार्थ मिल गया तो भोगेच्छा तो शान्त हो ही जाती होगी?"

भगवान् ने कहा—"भोगने से भोगों की इच्छा शांत नहीं होती। महाराज ययाति देवयानी के साथ भोग भोगते हुए अतृप्त बने रहे, तभी तक उनको वृद्धावस्था ने आ दवाया। तब शुक्राचार्य की कृपा से वे अपनी वृद्धावस्था को अपने छोटे पुत्र पुरु को देकर उसकी युवावस्था लेकर फिर विषय भोगों को सहस्रों वर्षों तक भोगते रहे, किन्तु इतने दिन काम भोगों को भोगते-भोगते भी उनकी तृप्ति नहीं हुई, अपितु भोगेच्छा अधिकाधिक बढ़ती ही गयी, तब उन्हें भोगों से वैराग्य हुआ और अन्त में उन्होंने यह गाथा गायी—"पृथ्वी भर के चावल जौ आदि जितने धान्य हैं, सुवर्ण आदि धन हैं गौ, घोड़ा, हाथी आदि पशु हैं, भोगने योग्य स्त्रियाँ हैं, ये सबकी सब एक ही व्यक्ति को दे दी जायँ, तो संसार की ये समस्त भोग वस्तुएँ एक पुरुष के मन को भी सन्तुष्ट करने में समर्थ नहीं हो सकती। जो काम के प्रहार से जर्जरित हो गया है, विषय भोग की सामग्री उसे कदापि तृप्त नहीं कर सकती। विषयों के भोगने से भोगवासना कभी शान्त नहीं हो सकती। अपितु भोगने से तो वह और भी अधिकाधिक भड़कती है, जैसे प्रज्वलित अग्नि में घृत डालने से उसकी लपटें और ऊँची उठती जाती हैं। विषयों की तृष्णा ही दुःखों का उद्गम स्थान है। मन्दबुद्धि लोग अत्यन्त ही कठिनाई से उसका त्याग कर सकते है। शरीर बूढ़ा हो जाता है, किन्तु तृष्णा नित्य नवीन ही होती

जाती है, अतः जो अपना कल्याण चाहता हो उसे शीघ्रातिशीघ्र तृष्णाका–कामवासनाका–भोगेच्छा का त्याग कर देना चाहिये।" इस गाथा को गाकर महाराज ययाति वैराग्य धारण करके–पुत्र को उसकी युवावस्था देकर भोगवासनाओं से निवृत्त हो गये। इसीलिये मैने कामरूप वासना को हे मेरी बूआ के पुत्र! दुष्पूर अनल की–कभी तृप्त न होने वाली अग्नि की–उपमा दी।

अर्जुन ने पूछा—"यह काम करता क्या है? कौन सा जादू करता है?"

भगवान् ने कहा—यह काम ज्ञान को ढक लेता है।

अर्जुन ने पूछा—ज्ञान क्या?

भगवान् ने कहा—"जिसके द्वारा यथार्थ वस्तु को जाना जाय, उसी का नाम ज्ञान है।"

अर्जुन ने कहा—ज्ञान को यह काम ढक कैसे लेता है।

भगवान् ने कहा—जैसे कुहरा सूर्य को ढक लेता है।

अर्जुन ने पूछा—तब प्रभो! यह काम कामी लोगों के ही ज्ञान को ढकता होगा, क्योंकि कामी लोग तो कामोपभोग के समय उसमें सुखानुभूति करते हैं। ज्ञानी को इसकी चिन्ता न करनी चाहिये?

भगवान् ने कहा—"ऐसी बात नहीं है, यह काम कामी अज्ञानी पुरुषों का भले ही कुछ काल को मित्र सा प्रतीत होता भी हो, किन्तु ज्ञानियों का तो यह नित्य वैरी है। ज्ञानी पुरुष तो भोग के समय भी सुखानुभूति नहीं करता, वह अनुभव करता है, कि ये भोग अनित्य हैं, क्षणभंगुर हैं, इन्हीं के द्वारा मैं संसार में फँसा हूँ। अतः ज्ञानी भोग काल में और भोग के अन्त में भी इस काम से दुःख का ही अनुभव करता है अतः यह काम ज्ञानियों का तो नित्य ही वैरी है। उनके साथ तो इसका मैत्री व्यवहार कभी सम्भव ही नहीं।"

अर्जुन ने पूछा—"महाराज, यह काम रूप शत्रु रहता कहाँ है? इसके रहने के स्थान कौन-कौन से हैं?"

भगवान् ने कहा—यह तुमने बहुत सुंदर प्रश्न किया, शत्रु के अधिष्ठान का पता लग जाने से वह अत्यन्त ही सुगमता से

जीता जा सकता है। यह काम रूप शत्रु इन्द्रिय, मन और बुद्धि इन्हीं स्थानों में रहता है।

अर्जुन ने पूछा—"इन्द्रियों में कैसे रहता है ?"

भगवान् ने कहा—"देखो, श्रोत, त्वक, चक्षु, रसना और घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ है इनके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच विषय हैं। यह काम इन विषयों में इन्द्रियों की भोगेच्छा-सुखानभूति उत्पन्न करके देहाभिमानी जीव को मोहित कर लेता है। वैसे ही कर्मेन्द्रियों के वचन, ग्रहण, गमन, त्याग और आनन्द द्वारा भी।"

अर्जुन ने पूछा—मन बुद्धि में कैसे रहता है ?

भगवान् ने कहा—जैसे इन्द्रियाँ इसकी अधिष्ठान हैं वैसे ही मन बुद्धि भी। संकल्प विकल्पादि लक्षण वाला मन होता है, निश्चयात्मिका बुद्धि होती है। काम मन बुद्धि में घुसकर जीव को मोह में डाल लेता है।

अर्जुन ने पूछा—"इसमें प्रधान अधिष्ठान कौन हुआ।"

भगवान् ने कहा—"प्रधान तो मन ही है। मन जैसे-जैसे इन्द्रियों को प्रेरित करता है वैसे-वैसे वे भोगों में प्रवृत्त होती है। किन्तु मन स्वयं भोग भोगने में असमर्थ है। क्योंकि 'मन' शब्द नपुंसक लिंग है। जब तक इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त न होंगी। मन कुछ कर ही नहीं सकता। इस कारण प्रधानता इन्द्रियों की ही है।

अर्जुन ने पूछा—"तब हम पहले किसका नियमन करें ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन के इस प्रश्न का भगवान् जो उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

रहैं कहाँ जिह काम ? सकल इन्द्रिनि के माहीं।
कर्मेन्द्रिय या ज्ञान उभय कूँ छोड़त नाहीं॥
वास करै मन बुद्धि जाइकें इन्हे बिगारै।
प्रेरित भोगनि करै अगिनि महँ घृत सम डारै॥
इन्द्रिय मन अरु बुद्धि तैं, ढकत रहत है ज्ञान कूँ।
जीवात्मा मोहित करै, प्रेरित करि अज्ञान कूँ॥

॥ श्री हरिः ॥

संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग) से प्रकाशित

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित

पुस्तकों का

संक्षिप्त सूची-पत्र

हिन्दुत्व की रक्षा के निमित्त प्रत्येक हिन्दु के लिये
नित्य अवश्य पालनीय चार नियम

१. *शिखाधारण*—प्रत्येक हिन्दु को सिर पर शिखा अवश्य रखनी चाहिये।

२. *प्रात स्मरण*—प्रात काल उठकर अपनी निष्ठा के अनुसार भगवान् के किन्हीं नामों का स्मरण अवश्य करना चाहिये।

३. देवदर्शन —नित्य नियम से आस-पास के किसी देवालय या मन्दिर में—दिन में एक बार—किसी भी समय देवता को प्रणाम अवश्य करना चाहिये।

४. *धर्मग्रन्थ पाठ*—किसी भी धार्मिक ग्रंथ का एक श्लोक अथवा एक छंद ही नित्य नियम से पाठ अवश्य करें अथवा सुने ही।

इससे अधिक जितना भी धार्मिक कृत्य करें, उतना ही उत्तम है।

"अधिकस्याधिकंफलम्"

१. भागवती कथा (१०८ खंडों में)—अब तक ७० खण्ड छप चुके हैं। प्रत्येक खंड की न्योछावर १ रु० ६५ पैसे।

श्रीमद्भागवत को उपलक्ष्य बनाकर इसमें अष्टादश पुराण तथा सभी वेद शास्त्रों का सार सरल, सुगम, सरस भाषा में वर्णित हैं। पढ़ते-पढ़ते आपकी तृप्ति न होगी, एक अध्याय को समाप्त करके दूसरा अपने आप ही पढ़ने लगेंगे। सर्वथा औपन्यासिक शैली मे लिखी है, भाषा इतनी सरल ओज पूर्ण है कि थोड़े पढ़े बालक मातायें तथा साधारण पुरुष भी समझ सकते हैं। अध्याय के आरम्भ में एक श्रीमद्भागवत का श्लोक होता है फिर एक उसी भाव की छप्पय, फिर उसी अध्याय की सारगर्भित भूमिका। तदनन्तर प्रतिपादित विषय, दृष्टान्त और सरल कथाओं तथा कथोपकथन के रूप में वर्णित है, अन्त मे एक छप्पय देकर अध्याय की समाप्ति की है। प्रत्येक खंड में १५-२० अध्याय होते हैं, लगभग २५० पृष्ठों का एक खंड होता है। प्रत्येक खंड का मूल्य १) रुपया ६५ पैसे। उत्तर प्रदेश, बिहार तथा बहुत सी जिला परिषदों के पुस्तकालयों के लिये सरकार द्वारा स्वीकृत है। ६८ खंडों में तो श्रीमद्भागवत के आधार पर विवेचन है ६९ वें खंड से गीतावार्ता नाम से श्रीमद्भगवत्-गीता का विवेचन हो रहा है। २०) भेजकर स्थायी ग्राहक बनें। वर्ष के १२ खंड आपको घर बैठे रजिस्ट्री से मिल जाया करेंगे।

६० खडों में तो कथा भाग समाप्त हो गया है। शेष खंडों में से प्रत्येक में किसी एक विषय का विवेचन होता है। सभी खंड प्रायः स्वतन्त्र हैं। विद्वानों नेताओं तथा प्रतिष्ठित पुरुषों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। हमारा बड़ा सूची-पत्र बिना मूल्य मँगाकर बहुत से विद्वानों की सम्मतियाँ पढ़ें। यह ग्रन्थ किसी का अक्षरशः अनुवाद नहीं स्वतन्त्र विवेचन है। हम यहाँ ७० वें खंड पर केवल एक सम्मति राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सर संघचालक श्री गुरुजी की ही देते हैं—

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सर संघचालक
परम पूज्य श्री माधव सदाशिव गोलवलकर
(श्री गुरुजी)
की

भागवती कथा

पर

शुभ-सम्मति

लगभग एक वर्ष पूर्व की बात है। श्री बदरीनारायण क्षेत्र में श्रद्धेय श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी महाराज ने, संकीर्तन भवन का निर्माण कराया था और उसका उद्‌घाटन मैंने ही करना चाहिए, ऐसी उनकी इच्छा थी। श्री महाराज जी की इच्छा को आदेश मानकर मैंने श्री बदरीनाथ की यात्रा करने का निश्चय किया। सोचा कि वर्षों की उत्कट इच्छा पूर्ण करने के लिए परम कृपालु श्री बदरीनाथ ने ही यह संयोग बनवाया और अपने अन्तरग भक्त श्री ब्रह्मचारी जी महाराज को मुझे भवन के उद्‌घाटन करने के हेतु निमन्त्रित करने की प्रेरणा दी होगी। इस कार्यक्रम का निमित्त बनाकर मुझ पर श्री भगवान् ने दया कर, मुझे अपने पास खीचकर ले जाने का मेरे लिए भाग्य का सुयोग्य प्राप्त कर दिया। अकारण करुणा करने का यह पवित्र खेल, खेल कर मुझपर अपना वरदहस्त मानो रख दिया।

श्री महाराज जी की सन्निधि में यात्रा करने के आनन्द का वर्णन करना मेरी शक्ति के बाहर है। श्री बदरीनाथ पहुँच कर पाँच रात्रि वहाँ भगवद्‌चरणों में रहने का सद्‌भाग्य प्राप्त हुआ। और श्री महाराज जी के श्रीमुख से श्रीमद्‌भागवत के कुछ अंश का विवरण सुनने का असीम सुख प्राप्त कर सका। भगवान् श्री कृष्ण जी के मथुरा चले जाने के कारण, शोक विह्वल गोप गोपियों और विशेष कर नन्द बाबा और यशोदा मैया की भाव विभोर अवस्था का, उनके द्वारा किया हुआ वर्णन पत्थर को भी पिघला सकने वाला कारुण्य रस का उत्कट

आविष्कार था। उनकी सांत्वना देने के लिए श्री भगवान् के द्वारा प्रेषित उद्धव जी के आगमन पर गोप, गोपी, यशोदा माई, आदि की स्थिति, उनकी भावनाएँ, उनका उद्धव जी के साथ हुआ संभाषण श्री ब्रह्मचारी जी के श्री मुख से सुनते-सुनते मन एक सुखद वेदना का अनुभव कर द्रवित हो जाता था। इस अनुभव का वर्णन किस प्रकार करूँ?

यह मंगल अनुभव सब लोगों को प्राप्त होना कितना अच्छा होगा ऐसा विचार मन में उठता रहा, और इसका समाधान भी प्राप्त हुआ है। पूज्य श्री ब्रह्मचारी जी ने अपनी मधुर भावनी भाषा मे श्री मद् भागवत को सरल हिन्दी में प्रसिद्ध करने का सकल्प किया था और उसके अनेक खंड प्रकाशित भी हो चुके थे इसका पुनः स्मरण हुआ जब श्रद्धेय श्री महाराज जी का कृपा पत्र मुझे प्राप्त हुआ कि श्री मद्भागवती कथा लेखन का कार्य जो बीच में रुक-सा गया था, उन्होने फिर करना प्रारम्भ कर दिया है और अब ७० वाँ खण्ड छप रहा है। श्री महाराज जी ने उसकी प्रस्तावना के रूप में मुझे कुछ लिखने का आदेश दिया। मुझे मेरी अयोग्यता का कुछ ज्ञान तो अवश्य है। अतः मैं निश्चय नहीं कर सका कि मुझे क्या करना उचित होगा। किन्तु श्री महाराज जी का आग्रहपूर्ण और एक पत्र आने पर यह धृष्टता करने बैठा हूँ।

इसमें मेरा एक ही काम है। सब बन्धुओं से माताओं से मैं नम्रता पूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि श्री ब्रह्मचारी जी की यह "श्रीमद्भागवती कथा" अपने पास रखें, उसका अध्ययन मनन करें। मूल श्री भागवत महापुराण समझना सबके लिए संभव नही है। पंडितो की विद्वता की "भागवते परीक्षा" होती है, यानी जो श्रीमद्भागवत रहस्य समझ सके वही विद्वान्, वही पडित कहलाने योग्य माना जा सकता है, ऐसा परम्परा से अपने यहाँ विश्वास है। श्रीमद्भागवत की रहस्य की गूढ़ता इससे अभिव्यक्त होती है। जहाँ पंडितों की बुद्धि कुंठित होती है वहाँ सामान्य श्रद्धालु वाचक की क्या स्थिति होगी यह समझना सरल है। फिर आज कल देववाणी संस्कृत के अध्ययन की उपेक्षा होने के कारण और भी

कठिनाई उत्पन्न हुई है। ऐसे सब बन्धु क्या श्रीमद्भागवत को समझने से वंचित ही रहे? यह होना उचित नहीं। श्रीमद्भागवत तो सर्वश्रेष्ठ ज्ञान के परिपाक पर उत्पन्न होने वाली अद्वैत भक्ति का आधार है। श्री भगवान् की वह शब्दवपु ही है। उसके ज्ञान से वंचित रहने के समान मनुष्य का अन्य दुर्भाग्य हो नहीं सकता। इस दुर्भाग्य से रक्षण कर सर्वसामान्य मनुष्य को श्रीमद्भागवत का रहस्य सुगम भाषा में बताना, श्रीमद्भागवत में अभिव्यक्त ज्ञान भगवत्स्वरूप तथा विशुद्ध पराभक्ति का बोध सब को अपनी बोली के माध्यम से प्राप्त कर देना आवश्यक है। और यह केवल सूक्ष्म भाषानुवाद के रूप में न होकर उत्कट भक्ति भाव से होना आवश्यक है।

श्री ब्रह्मचारी जी भगवद्भक्ति में नित्य लीन रहते हैं। अतः उनके मुख से निकलने वाली सहजवाणी विशुद्ध भक्ति के मधुर रस से आर्द्र रहती है। ऐसी मृदु मधुर सरस भाषा में श्रीमद्भागवत महापुराण रहस्य सबको अवगत करा देने के लिए वे कृतसंकल्प हैं। अष्टोत्तरशत खण्डों में ग्रन्थ पूर्ण करने की उनकी योजना है। इसमें से यह ७० वाँ खड है। शीघ्र ही शेष खड भी प्रकाशित होंगे और सामान्य सीधे साधे भोले किन्तु भक्ति की चाह रखने वाले असख्य श्रद्धालु बन्धुओं की अभिलाषा पूर्ण होगी ऐसा मुझे विश्वास है।

परम मंगल अकारण करुणामय दयाघन श्री भगवान् की असीम कृपा से उनकी साक्षात् मूर्ति ही श्रीभगवती कथा के शब्द देहको धारण कर प्रकट हो और संसार के तप्त जनों को शांति प्रदान करें इस हेतु उनके चरण कमलों में मैं विनम्र प्रार्थना करता हूँ।

केवल प्रस्ताविक के नाते अधिक लिखना मेरे लिए अशोभनीय होगा। वस्तुतः मेरा यह लिखना भी सामान्य छोटे से दीपक से सहस्र रश्मि सूर्य नारायण को प्रकाशित करने की चेष्टा के समान हास्यास्पद है। श्री महाराज जी की आज्ञा का पालन करना इसी एक उद्देश्य से यह धृष्टता की है, जिसके लिए सब श्रेष्ठ भक्त वाचक वृन्द से क्षमा-याचना करता हूँ।

—मा० स० गोलवलकर

पता—संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)

२. भागवत चरित सप्ताह (पद्यों में)—यह भागवत का सप्ताह है। छप्पय छन्दों मे लिखा है। सैकड़ों सादे चित्र ५-६ बहुरंगे चित्र हैं कपड़े की सुन्दर जिल्द है, लगभग हजार पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य ६ रु० ५० पैसे, पाँच सस्करणो में अब तक २३ हजार प्रतियाँ छप चुकी हैं। *बिहार सरकार द्वारा पुस्तकालयो के लिये स्वीकृत है।*

३. भागवत चरित (सटीक दो भागों में)—अनुवादक—पं० रामानुज पाडेय, बी० ए० विशारद "भागवत चरित व्यास" भागवत चरित की सरल हिन्दी में सुन्दर टीका है प्रथम खड छप चुका है। जिसमे १२२५ पृष्ठ हैं, मूल्य ८ रुपया। द्वितीय खंड शीघ्र ही छपने वाला है।

४. बद्रीनाथ दर्शन—श्रीबद्रीनाथ यात्रा पर यह बड़ा ही खोजपूर्ण ग्रन्थ है। बद्रीनाथ यात्रा की सभी आवश्यक बातो का तथा समस्त उत्तराखड के तीर्थों का इसमे वर्णन है। लगभग सवाचार सौ पृष्ठो की सजिल्द सचित्र पुस्तक का मूल्य ५) रुपया। भारत सरकार द्वारा *अहिन्दी प्रान्तो के लिये स्वीकृत है।*

५. महात्मा कर्ण—महाभारत के प्राण महात्मा कर्ण का यह अत्यन्त ही रोचक शिक्षाप्रद तथा आलोचनात्मक जीवन-चरित्र है। ३५६ पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य ३ रु० ४५ पैसे।

६. मतवाली मीरा—मीराबाई के दिव्य जीवन की सजीव झाँकी तथा उनके पदों की रोचक भाषा में व्याख्या। २२४ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मूल्य २ रु० ५० पैसे है। यह इसका छठा संस्करण है।

७. नाम संकीर्तन महिमा—नाम संकीर्तन के ऊपर जितनी भी शंकायें उठ सकती हैं उनका शास्त्रीय ढङ्ग से युक्तियुक्त विवेचन है। मूल्य ६० पैसे।

८. श्रीशुक (नाटक)—श्रीशुकदेव मुनि के जीवन की दिव्य झाँकी। पृष्ठ सं० १०० मूल्य ६५ पैसे।

९. भागवती कथा की बानगी—भागवती कथा के खडों के कुछ अध्याय बानगी के रूप में इसमे दिये गये हैं। इसे पढकर आप भागवती कथा की शैली समझ सकेंगे। पृष्ठ १०० मू० ३१ पैसे।

१०. शोक शान्ति—अपने प्रिय स्वजनो के परलोक प्रयाण पर सान्त्वना देने वाला मार्मिक पत्र। शोक संतप्तों को संजीवनी बूटी है। पृष्ठ ६४, मूल्य ३१ पैसे। पंचम संस्करण।

११. मेरे महामना मालवीयजी—महामना मालवीयजी के सुखद

संस्मरण। १३५ पृष्ठ की छोटी पुस्तक, मूल्य ३१ पैसे।

१२. भारतीय संस्कृति और शुद्धि—क्या अहिन्दु पुनः हिन्दु बन सकते हैं, इस प्रश्न का शास्त्रीय ढङ्ग से प्रमाणो सहित विवेचन बड़ी ही मार्मिक भाषा मे किया गया है, वर्तमान समय मे जब विधर्मी अपनी सख्या बढ़ा रहे हैं यह पुस्तक बड़ी उपयोगी है। पृष्ठ ७६ मूल्य ३१ पैसे।

१३. प्रयाग माहात्म्य—तीर्थराज प्रयाग के माहात्म्य पर ३२ पृष्ठ की छोटी सी पुस्तिका, मूल्य २० पैसे।

१४. वृन्दावन माहात्म्य—श्रीवृन्दावन के माहात्म्य पर लघु पुस्तिका। मूल्य १२ पैसे।

१५. राघवेन्द्र चरित (छप्पय छन्दो में)—श्रीरामचन्द्र जी की कथा के ६ अध्याय भागवत चरित से पृथक् छापे हैं। रामभक्तो को नित्य पाठ के लिये बड़ी उपयोगी है। पृष्ठ स० १६० मूल्य ४० पैसे।

१६. प्रभुपूजा पद्धति—भगवान् की पूजा करने की सरल सुगम शास्त्रीय विधि इसमे श्लोको सहित बताई है। श्लोको का भाव दोहाओं में भी वर्णित है। मूल्य २५ पैसे।

१७. चैतन्य चरितावली—महाप्रभु चैतन्यदेव की जीवनी। प्रथम खण्ड का मूल्य १ रु० ६० पैसे। अन्य खण्ड भी छपने वाले हैं।

१८. भागवत चरित की बानगी—इससे भागवत चरित के पद्यों की सरसता जान सकेंगे। पृष्ठ १०० मूल्य ३१ पैसे।

१९. गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पय छन्दों में) दोनो स्तोत्र है। मूल स्तोत्र भी दिये हैं। मूल्य २० पैसे।

२०. श्रीकृष्ण चरित—भागवत चरित से यह पद्यों में श्रीकृष्ण चरित पृथक् छापा गया है। पृष्ठ सं० ३५० मूल्य २ रु० ५० पैसे।

२१. गोपालन शिक्षा—गौ कैसे पालनी चाहिये। गौओं की कितनी जाति हैं, गौओं को कैसा आहार देना चाहिये। बीमार होने पर कैसे चिकित्सा की जाय। कौन-कौन देशी दवाएँ दी जायँ, इन सब बातों का इसमें विशद वर्णन है। पृष्ठ २०४ मूल्य २ रुपया ५० पैसे।

२२. मुक्तिनाथ दर्शन—नैपाल में सुप्रसिद्ध मुक्तिनाथ तीर्थ है। यात्रा का बहुत ही हृदयस्पर्शी वर्णन है। नैपाल राज्य तथा नैपाल के समस्त तीर्थों का इसमें विशद वर्णन है, मूल्य २ रुपया ५० पैसे।

२३. आलवन्दार स्तोत्र मूल तथा छप्पय छन्दों में अनूदित—

श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के महामुनीन्द्र श्रीमत् यामुनाचार्य कृत यह स्तोत्र सर्वमान्य तथा बहुत प्रसिद्ध है। ५ बार में १६५०० छपी है। अमूल्य।

२४. रास पंचाध्यायी—भागवत चरित से रास पंचाध्यायी पृथक् छापी गयी है। बिना मूल्य वितरत की जाती है।

२५. गोपी गीत—श्रीमद्भागवत के गोपी गीत का उन्हीं छन्दो में ब्रजभाषा अनुवाद है। वह भी बिना मूल्य वितरित है।

२६. श्रीप्रभु पदावली—श्री ब्रह्मचारीजी के स्फुट पदों का सुन्दर संग्रह है। पृष्ठ संख्या १२२, अमूल्य।

२७. परमसाहसी बालक ध्रुव—१०० पृष्ठ की पुस्तक मूल्य ६० पैसे।

२८. सार्थ छप्पय गीता—गीता के श्लोक एक ओर मूल और अर्थ सहित छापे है। उनके सामने अर्थ की छप्पय हैं। सचित्र पुस्तक का मूल्य ३ रु० है।

२९. हनुमत् शतक—नित्य पाठ करने योग्य यह पुस्तक बहुत ही सुन्दर है। इसमें १०८ छप्पय हैं, सुन्दर हनुमान् जी का एक बहुरंगा तथा २१ सादे चित्र हैं। मूल्य ५० पैसे।

३०. महावीर हनुमान्—श्रीब्रह्मचारी जी महाराज ने श्रीहनुमान् जी का यह विस्तृत जीवन-चरित्र भागवती कथा की भाँति लिखा है, इसमे २१ अध्याय है। (पृष्ठ संख्या २०६ मूल्य २) ५० पैसे।

३१. भक्त-चरितावली (दो भागों में)—यदि आप चाहते हैं कि हम भी प्रभु के भक्तों की गाथा पढ़कर, भक्ति में आत्मविभोर होकर, प्रभु की दिव्य झाँकी की झलक का दर्शन करें तो आज ही भक्त-चरितावली के दोनो भाग मँगाकर पढ़ें। भक्त-चरितावली भाग (१) पृष्ठ ४४४ मूल्य ४) रु०। भाग (२) पृष्ठ ३०३ मूल्य २ रु० ५० पैसे।

३२. छप्पय भर्तृहरि शतकत्रय—श्री भर्तृहरि के नीति, शृंगार और वैराग्य तीनों शतकों का छप्पय छन्दों में भावानुवाद। पुस्तक बहुत ओजस्वी [illegible] में है (प्रेस में)।

३३. श्री सत्यनारायण व्रत कथा (माहात्म्य)—छप्पय छन्दों में [illegible] साथ ही पूजन पद्धति भी सक्षेप में दी गई है। अभी छपी है पृष्ठ ७८ मूल्य ७५ पैसे।

३४. छप्पय विष्णु सहस्र नाम तथा दोहा—भाष्य सहित सहस्र नामों के सहस्र श्लोक शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली है।

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज (प्रयाग)